सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 30 अंक 6	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तत्प्राप्त्यर्थान् बहुतर विषदान योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याणानां भवत् महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।	सितम्बर 1997

तद् ब्रह्म न स्मरसि

पातालमाविशसि यासि नभो विलंघ्य,
दिङ्मण्डलं भ्रमसि मानसचापलेन।
भ्रान्त्यापि जातु विमलं कथमात्मनानं,
तद् ब्रह्म न स्मरसि निर्वृतिमेषि येन।।

अर्थात्

रे मन ! तू अपने चाञ्चल्य से कभी तो पाताल में घुस जाता है, कभी तो ऊँचे से ऊँचे आकाश तक को पार कर जाता है, कभी सब दिशाओं का चक्कर काट जाता है। जब जहाँ के विषय की लालसा होती है, तब वहाँ पहुँच जाते हो, परन्तु भ्रम से भी कभी निर्मल और आत्म-हितकारी उस परब्रह्म परमात्मा का चिन्तन नहीं करता जिससे यथार्थ सुख प्राप्त होता है।

अमृत कण

जो मनुष्य अपने हित और भलाई की बात नहीं सुनता प्रत्युत अप्रसन्न होता है अथवा अपमान समझता है तो समझो वह सत्य प्रेमी नहीं चंचल स्वभाव है दृढ़ प्रतिज्ञ नहीं ऐसा मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकता।

* * * * *

अत्यन्त अभिमान, अधिक बोलना त्याग का अभाव, क्रोध, स्वार्थ और मित्र द्रोह यह छः तीखी तलवारें देहधारियों की आयु को घटाती है। जो संसार में अधिक जीना चाहते है, उन्हें इन छः दोषों से बचना चाहिये।

* * * * *

सम्पूर्ण सत्य को ग्रहण करने के लिये तुम्हें सांसारिक इच्छाओं का त्याग करना होगा तुम्हें सांसारिक राग-द्वेष से ऊपर उठना होगा। अपने उन सारे रिश्ते नातों को नमस्कार करना होगा जो तुम्हें बाँधकर गुलाम बनाते और नीचे घसीटते है, यही साक्षात्कार का मूल्य है। जब तक मूल्य अदा न करोगे सत्य को नहीं पा सकते।

* * * * *

पवित्र प्रज्ञा (बुद्धि) चिंतामणी के समान कल्पलता के समान मन चाहा फल देती है। श्रेष्ठ, पुरुष पवित्र प्रज्ञा के द्वारा संसार-सागर से पार हो जाता है; किन्तु अधम मानव उसमें डूब जाता है।

* * * * *

अनन्य चेता : सततं यो मां स्मरति नित्यशः
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्य युक्तस्य योगिनः।।

हे अर्जुन ! जो पुरुष मेरे में अनन्य चित से स्थित हुआ। सदा ही निरन्तर मेरे को स्मरण करता है। उस निरन्तर मेरे में युक्त हुये योगी के लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।

माम बेत्य पुर्नजन्म दुःखालयमशाश्वतम्
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धि परमा गताः।।

वे परम सिद्धि को प्राप्त हुये महात्माजन मेरे को प्राप्त होकर, दुख के स्थान रूप क्षण भंगुर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते है।

विशेष लेख

आनादि महासिद्ध श्रीकृष्ण और उनका योग-ऐश्वर्य

योगीराज अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योगी का भूतजय एवं अणिमादिक की प्राप्ति

एक साधक योगी पंच महाभूतों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए संयम करता है और उनका साक्षात्कार करता है। बाद में कठिन प्रयास के बाद वह भूतजय की सिद्धि को प्राप्त करता है और अणिमादिक का अधिकारी बनता है। योग दर्शन में भगवान् पंतजलि देव लिखते है :-

स्थूल स्वरूप सूक्ष्मान्वयार्थवत्व संयमाद्भूतजयः।

अर्थात योग दर्शन में पाँच भूत माने है :-

(1) स्थूल :- पंच महाभूतों का स्थूल स्वरूप इस प्रकार है जैसे पृथ्वी का पृथ्वी ही स्थूल रूप है और जल का जल ही स्थूल रूप है, वायु का वायु और आकाश का खाली पोल। यही इन पंच महाभूतों में स्थूल रूप है जो स्वरूप हर व्यक्ति को देखने में आता है।

(2) स्वरूप :- दूसरा रूप उनका स्वरूप है। उदाहरण के लिए जैसे पृथ्वी में गन्ध, जल में चिकनाहट, अग्नि में गर्मी, वायु में कम्पन और आकाश में पोल। ये इन पंच महाभूतों का स्वरूप है।

(3) सूक्ष्म :- तीसरा रूप सूक्ष्म है जिनको तन्मात्र कहा जाता है, जैसे पृथ्वी का तन्मात्र तन्मात्र गन्ध, जल का रस तन्मात्र, अग्नि का रूप तन्मात्र, वायु का स्पर्श तन्मात्र यह पंच महाभूतों का तीसरा रूप है।

(4) अन्वय :- चौथा रूप अन्वय है। अन्वय का अर्थ ओत्-प्रोत रहना; जैसे सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण, ये तीनों गुण अपने प्रकाश, प्रवृर्ति और स्थिति वाले धर्मों से सर्वत्र अनुगत रहते है यही पंच महाभूत का अन्वय रूप है।

(5) अर्थवत्व :- अर्थात् इनका अर्थवान होना इनसे कोई उपकार न हो, लाभ हो, सो ये पाँचो महाभूत योग अपवर्ग के दाता है। महाभूत के सम्मिश्रण से ही मनुष्य भोग का भोक्ता है। इसलिए नित्य चेतन आत्मा बौद्धेय धर्मों का अनुगामी होकर पंच महाभूतों में जनित सभी प्रकार के दृश्यात्म भोगों का भोक्ता रहता है। दृश्य का दूसरा कार्य अपवर्ग है जिस समय जीवन वैराग्य भाव

को प्राप्त होकर बराबर सूक्ष्मतर और उसकी सूक्ष्मतम तत्वों में संयम करता हुआ आगे बढ़ता रहता है वह अपवर्ग को प्राप्त कर लेता है। भूतों के इन भिन्न पाँच रूपों में जब तक योगी साक्षात पर्यन्त बराबर संयम करता रहता है तो उसके फलस्वरूप, वह भूत जय को प्राप्त होता है। और भूत जय कर लेने पर:-

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः काय संपतद्धर्मानभिघातश्च।।

अर्थात्- पंच भूतों पर विजय प्राप्त कर लेने पर अणिमादिक सिद्धियाँ योगी को अनायास ही प्राप्त हो जाया करती है। इस सूत्र के भाष्य में भगवान व्यास देव जी लिखते हैं:-

अर्थात्- भूतजय प्राप्त कर लेने पर योगी को अणिमादिक सिद्धियाँ जो अनायास प्राप्त हो जाती है।

(1) **अणिमाः- भवत्यणुः-** अणुमात्र हो जाना।

(2) **लघिमाः- लघुर्भवतिः-** हल्का हो जाना।

(3) **महिमाः- महान् भवतिः-** बड़ा हो जाना।

(4) **प्राप्तिः- अङ्कल्यग्रैणपिस्पृशतिः-** अंगुली के अगले भाग से चन्द्रमा को छू लेने की ताकत होना।

(5) **प्राकाम्यः- इच्छाऽनेभिघातो भूमावुन्मज्जतिः-** किसी भी प्रकार की इच्छा का न रुकना, पूर्ण हो जाना, चाहे तो योगी जिस प्रकार सर्व साधारण मनुष्य जल में गोता लगा लिया करते है और बाहर निकल आया करते है इसी प्रकार पृथ्वी में प्रवेश कर बाहर निकल आएँ।

(6) **वशित्वम्:- भूत भौतिकेषुवशी भवतिः-** अर्थात पंच महाभूतों से रहने वाले सभी पदार्थों पर उस योगी का पूर्ण वशीकार होता है और वह स्वयं किसी के वश में नहीं रहता।

(7) **ईशत्वः- तेषाम्प्रभवोप्ययव्यूहाना-मीष्टेः-** अर्थात् पंच महाभूतों के भौतिक कार्यों को बनाने और बिगाड़ने की सामर्थ्य रखना।

(8) **यत्रकामावसायत्वमः सत्य सङ्कल्पस्तथाः** अर्थात् सत्यं संकल्पता जैसे योगी की इच्छा होती है पंच महाभूतों का उस प्रकार अवस्थान हो जाता है और इन महासिद्धियों को पाकर योगी सर्व सामर्थ्यवान बन जाता है। महाभूतों का कोई भी कार्य उसके प्रतिकूल नहीं करता प्रत्युत उसको काय सम्पत और प्रगट हो जाती है। काय सम्पति का भगवान् पंतजलि देव ने इस प्रकार कहा है:-

रूप लावण्य बल वज्र सहननत्वनि काय संपत्।

अर्थात् रूप = अत्यन्त रूपवान कान्तिवान वज्र के समान दृढ़ और सब प्रकार अच्छेद्य शरीर वाला हो गया है। सब प्रकार

से शरीर की अच्छेद्यता, अभेद्यता को प्राप्त रहना यह योगी की काय सम्पत्ति है। जो भूतजय प्राप्त होने पर स्वभाव से ही बनी रहती है। साधक सिद्ध योगी को जीवन भर की कठिन साधना के बाद भूत जयता प्राप्त होती है। तब उसके ऊपर भूतों के दुष्परिणाम नहीं हो पाते। भूतजय योगी विषपान करके उसको सहज में ही पचा जाता है और अमृत के गुणों को अपने अन्दर प्रकट कर लेता है। साधना करने वाले योगी को ये सम्पति बड़े कठिन प्रयत्न के बाद प्राप्त हुआ करती है किन्तु अनादि महासिद्ध सदैव ईश्वरः सदैव मुक्तः के स्वरूप को धारण करने वाले अनादि महासिद्ध सर्वतः परिपूरितम श्रीकृष्ण के लिए यह भूत जय आदि ऐश्वर्य अनायास ही प्राप्त है। अतः पूतना के स्तनों से विषपान करने पर भी शरीर में किसी प्रकार का कुप्रभाव न हो करके उसकी काय सम्पति को ज्यों का त्यों बने रहना उस महायोगी के भूत जयात्मक पूर्णाधिकार को पूर्णरूपेण प्रकट करती है।

इससे आगे श्रीमद्भागवत में संकट भंजन जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण अपने पलने में सो रहे थे। कुछ समय बाद उनकी आँख खुली वह भूख के कारण दूध पीने की इच्छा रखते हुए रोने लगे। काफी समय तक यशोदा उन्हें देख नहीं पायी। माता की इस उपेक्षा के कारण भगवान ने थोड़ा सा कोप का अभिनय किया और पास में खड़े हुए एक बड़े भारी संकट अर्थात् बैलगाड़ी को बल से पैर मार कर तोड़ डाला। उस पर काफी दही दूध रखा था वह वर्तन भाडों के टूट जाने के कारण पृथ्वी पर फैल गया। सभी वृजवासियों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतनी भारी गाड़ी सहसा कैसे टूट गयी। भगवान श्रीकृष्ण के बालसखा छोटे-छोटे बच्चे अपनी तोतली जबान से नन्द बाबा और यशोदा माता को बतलाने लगे कि तुम्हारे लाला इस कन्हैया ने गुस्से में आकर पैर मारकर इस गाड़ी को तोड़ दिया है। सभी बूढ़े-बड़ों के मन में पूरा-पूरा विश्वास नहीं हो पाया क्योंकि श्रीकृष्ण तो अभी बिलकुल छोटे बच्चे थे। अभी तो उन्होंने करवट बदलना ही सीखा था। उनके पैर मारने से संकट का टूट जाना असम्भव-सी बात थी। किन्तु बालों के भंडार अखिल आत्मा श्रीकृष्ण के लिए ये सब खेल जैसी बात थी। उन्होंने अपनी इस अल्पीय-सी अवस्था में ही संकट को पैर मार कर अपने अतुल बल का परिचय दे दिया यह उनका बिना किसी साधना के सहज ऐश्वर्य था। दूसरे योगी इस बल को बड़ी भारी कठिन साधना के द्वारा प्राप्त किया करते हैं तब इतने बन पाते हैं

बल प्राप्ति का अमोघ साधन

योग दर्शन में भगवान पंतजलि देव अपने शरीर में अतुल बल बढ़ाने का एक

अमोघ साधन बतलाते है। साधक योगी पहले ब्रह्मचर्य व्रत आदि का पूर्ण रूपेण पालन करके वह बाद मे धारणा, ध्यान, समाधि का निरन्तर अभ्यास करके संयम सिद्धि को प्राप्त करे तब अपनी साधना के बल पर अपने शरीर मे हाथियो के बलो को उत्पन्न कर सकता है। चीते जैसी स्फूर्ति ला सकता है, बशर्ते उसने अपनी साधना को लगातार निरन्तर एवं आदर पूर्वक दृढ़ता से अभ्यास करके कठिनता से प्राप्त कर पाया हो भगवान पंतजलि देव बतलाते है।

बलेषु हस्तिबलादीनी

यदि योगी बलों के अन्दर संयम करता है तो उसके अन्दर तत्काल हाथी के समान बल बढ़ जाता है। एवं उसका शरीर बज्र के मानिन्द दृढ़ हो जाता है। उसके लिए संकट का तोड़ देना न कुछ के बराबर है किन्तु साधन सिद्धो के लिए यह कार्य उनकी अपनी साधना के बल पर होता है और अनादि काल से स्वतः सिद्ध रहने वाले महान आत्मा श्रीकृष्ण के लिए यह अनायास सहज कर्म था जो उनके ईक्षण मात्र से स्वतः हो गया।

तृणावर्त का बध एवं लघिमा और गरिमा का प्रयोग

भगवान के इससे आगे के चरित्रों के अन्दर तृणावर्त राक्षस की कथा है। यह तृणावर्त बात रूपधारी कंस का एक नौकर था जिसने झंझावात का रूप धारण कर गोकुल मे बड़ा भारी तूफान मचा दिया। सम्पूर्ण गोकुल गाँव ब्रज रज से भर गया। उस झंझावात मे एक दूसरे के शरीर नही दिखाई देते थे। महा अन्धकार छा गया था। माता यशोदा ने अपने बाल गोविन्द को एक ओर जमीन पर बिठा दिया था। राक्षस तृणावर्त का दाँव लग गया और उनको उठाकर आकाश मे ले गया। तृणावर्त के मनोभाव जानकर भगवान् ने अपने आपको रूई के मानिन्द हल्का बना लिया और उसके वेग के साथ-साथ आकाश मे चले गए और तृणावर्त के गले को पकड़ बालक के वेश मे छिपे हुए उस दिव्य तेज ने आकाश मे पहुँच कर और अपने हाथों मे तृणावर्त के गले को पकड़कर गरिमा के प्रयोग से अपने आपको इतना भारी बना लिया कि श्रीमद्भागवत मे व्यास देव जी को यह शब्द कहने पड़े :-

तमश्मानं मन्यमान आत्नो गुरुमतया।
गले गृहीत उत्स्रष्टुं नाशक्रोदद्भुतार्भकम्।।

अर्थात् उस तृणावर्त राक्षस ने भगवान श्रीकृष्ण को पत्थर के मानिन्द भारी समझा। भगवान ने उसके गले को पकड़ रखा था। भारी प्रयत्न करने पर भी वह अपना गला नही छुड़ा सका और अन्त मे उसको मृत्यु के मुख मे जाना ही पड़ा। जगदात्मा की ये सारी लीलाएँ योग से ही सम्बन्ध रखने

वाली है। अन्य जितने अवतार हुए उनमें से किसी ने भी कहीं पर इतने विशेष ऐश्वर्य का प्रदर्शन नहीं किया कि उसके चरित्रों से योगिक ऐश्वर्य झलक पड़े। भगवान श्रीकृष्ण का सारा लीला चरित्र योग ऐश्वर्य झलक पड़े। भगवान श्रीकृष्ण का सारा लीला चरित्र योगऐश्वर्य से परिपूर्ण है किन्तु ये सबके सब कार्य उनमें संकल्प मात्र के थे और यही सब उनकी अनादि काल से चलने वाली सिद्धता है। इस छोटे से लेख में उन जगदात्मा के अलौकिक योग ऐश्वर्य को यत्किंचित दिखलाने का प्रयत्न किया है। मैं समझता हूँ इन चरित्र के पढ़ने से हर साधक को योग की उत्कृष्टता का ज्ञान अवश्य हो जाएगा। भगवान श्रीकृष्ण स्वतः सिद्ध थे किन्तु उन्होंने अपने जीवन में जिस प्रकार अणिमादिक ऐश्वर्य का प्रयोग किया है उस बल की साधना करने वाला योगी भी समय पर प्राप्त कर सकता है। आज भी भारत वर्ष में इस प्रकार के योगी मौजूद हैं जिनकी इस प्रकार की कथाएँ दंत परम्परा से अवगत होती ही रहती हैं। साधारण साधक समुदाय के अन्दर भी लोग अपनी छोटी-मोटी प्राणशक्ति का प्रदर्शन आज दुनियाँ में किया करते हैं सैकड़ों मन का वजन अपनी छाती पर रखते हैं बैलों की गाड़ी, ट्रक अपने छाती से उतरवाते हैं। ये उनकी प्राण शक्ति का थोड़ा-सा प्रदर्शन होता है इसमें संयम बल की कोई भी साधना नहीं किन्तु प्राण पर थोड़ा सा जय प्राप्त करने पर वे लोग इस प्रकार के अद्‌भुत कर्म करके दिखाया करते हैं। जब मुझसे कोई यह प्रश्न पूछता है कि परमात्मा की ओर चलने वाले मार्गों में आपको कौन-सा प्रिय है तो मुझे उसी समय केवल मात्र लीला तनु धारण करने वाले श्रीकृष्ण जी की स्मृति हठात् आया करती है और मेरी वाणी से एक ही उत्तर मिलता है। परमात्मा की ओर जाने वाले रास्ते बहुत हैं और मुन्डे-मुन्डे मूर्तिभिन्ना के अनुसार अपने मार्गों को योगी तय भी कर लेता है। किन्तु हमारे पूर्वजों ने जिस विद्या का मान किया, श्रीकृष्ण जी की लीला अभिनय के अन्दर जो विद्या पग-पग पर टपकती है वह पवित्र योग विद्या ही है। इस छोटे से लेख में भगवान् श्रीकृष्ण जी की चार-पाँच कथाओं की ओर संकेत करके उनके योग ऐश्वर्य को बतलाने का प्रयत्न किया है। ●●●

मनुष्य जिस क्षण भविष्य की चिन्ता का त्याग कर देता है, भूत को भूल जाता है तथा देहाभिमान का त्याग कर देता है, उसी क्षण वह एक उच्चतर अवस्था में पहुँच जाता है।

योग और आहार-तात्विक विवेचन

प्रोफेसर आचार्य चन्द्रहास शर्मा, नई दिल्ली

मनुष्य के मन की संरचना आहार-विहार से होती है। यदि व्यक्ति सात्विक अन्न का आहार करेगा तो उसका मन सात्विक भावों से समन्वित बनेगा। राजसिक आहार से चंचल तथा तामसिक से निद्रा, आलस्य, जड़ता, प्रमाद एवं अज्ञानतायुक्त बनेगा। यदि किसी मनुष्य की परीक्षा करनी हो तो उसके आहार-विहार से ही जा सकती है। अंग्रेजी में एक कहावत प्रसिद्ध है–

'Tell me what you eat, I will let you know what you are'.

योगसिद्धि के लिये और साधना के लिए आहार-संयम अपरिहार्य है। योग की वर्णाक्षरी मन की एकाग्रता से प्रारम्भ होती है। जब तक मन वश में नहीं है, इन्द्रियाँ चित्त, बुद्धि तथा प्राण वश में नहीं हो सकते। अन्तःकरण की विशुद्धि के बिना शुद्ध चेतन आत्म तत्त्व का साक्षात्कार असम्भव है। जो लोग शराब, गाँजा, भाँग, माँस, बीड़ी, सिगरेट, हेरोइन, अण्डे या सड़ागला अन्न सेवन करते हैं, उनकी ऊर्जा का ऊर्ध्वाकर्षण कैसे संभव होगा ? बिना ऊर्ध्वाकर्षण के योग की अन्तर्भूतिकाओं–धारणा, ध्यान, समाधि में प्रवेश कर पाना सर्वथा असम्भव है। मनुष्य जैसा अन्न खाता है वैसा ही उसका मन बनता है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है–**'जैसा खाये अन्न वैसा बने मन'**।[1] योग साधना के लिये चेतावनी (Precautions) के रूप में योगयोगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण गीता में युक्ताहार, विहार, युक्त चेष्टायें, युक्तकर्म तथा योगयुक्त रीति से सोने और जागने की बात कहते हैं। गीता में "युक्त योगारूढ़" शब्द विशेष संदर्भ में प्रयुक्त हुए हैं। उसे हठयोग- प्रदीपिका आदि ग्रन्थों में **भुज्यते शिवसंप्रीत्यै** शब्दों में कहा गया है। समाहित चित एवं मन से किया हुआ भोजन योगसिद्धि का कारण होता है। जो बहुत अधिक आहार प्रिय है या व्रत रखकर अपनी धातुओं को क्षीण करते है वह भोजन अमृत नहीं अपितु विष का काम करता है।

योग के यम-नियम-आसन, प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा ध्यान समाधि आदि सभी अंगों का लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार की योग्यता लाना[2] है। योग का प्रचलित अर्थ चित्तवृत्ति निरोध, समाधि, कर्म की कुशलता, प्राण और अपान की एकता, जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य सम्बन्ध सूर्य नाड़ी और चन्द्रनाड़ी (पिंगला, इड़ा) के प्रवाह का एकत्व करना,

---

1. युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
   युक्त स्वप्नाव बोधस्य योगो भवति दुःखहा।। गीता
2. सत्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रिय जयात्म दर्शन योग्यत्वानि। योगसूत्र

शक्ति तथा शिव का सामरस्य होना आदि-आदि माना जाता है। योग आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक तीनों प्रकार के दुःखों का समूलोन्मूलन करने वाला वह विज्ञान है जो सार्वभौम सत्य है। महर्षि पंतजलि ने योगसूत्र में आत्मसाक्षात्कार के लिए मन और प्राणों की शुद्धि को सर्वप्रथम स्थान दिया है। अन्तःकरण को शुद्धि का सर्वप्रथम स्थान दिया है। अन्तःकरण की शुद्धि के अभ्यास से चित्तशुद्धि, मन की प्रसन्नता, मन की एकाग्रता, इन्द्रियजय तथा उसके पश्चात् आत्मसाक्षात्कार की योग्यता उत्पन्न होती है।[2] सत्वशुद्धि का आहार है। छान्दोग्य उपनिषद् में उल्लेख है- **आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृति विप्रलम्भे सर्वग्रन्थीनां मोक्षः।** "अर्थात् आहार का ऋतु, आयु, बल, अग्नि के अनुसार उचित मात्रा तथा उचित द्रव्यों के सम्मिश्रण से उचित समय पर शिव सम्प्रीति हेतु औषधि के रूप में शरीर और मन तथा प्राणों को दृष्टि, पुष्टि एवं तुष्टि देने के लिए सेवन किया जाय तो ऐसा आहार हमारे शरीर मन और बुद्धि के दोषों को दूर कर आत्मस्मृति को स्थायी बना देता है। आत्म भावना का निरन्तर विकास होते-होते आत्मसाक्षात्कार होने पर मायिक कर्मज तथा आणविक सभी प्रकार के मल नष्ट हो जाते हैं जिससे ब्रह्म, विष्णु एवं रुद्रग्रन्थियों का भेदन हो जाया करता है। यही अवस्था प्राप्त करना योग का चरम लक्ष्य है। योग की साधना का आधार स्तम्भ स्वस्थ शरीर है। हमारे शास्त्राकारों ने धर्मार्थकाम मोक्ष चतुर्विध पुरुषार्थ की उपलब्धि का आधार स्वस्थ तथा सबल शरीर को ही माना है। **'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्'** यह कालिदास के कुमार सम्भव काव्य की प्रसिद्ध उक्ति है। जब तक शरीर नीरोग न हो योगसाधना का लाभ नहीं होगा। शरीर सिद्धि के लिए युक्ताहार का नियम पालन आवश्यक है। शरीर के नीरोग से मन भी नीरोग रहेगा क्योंकि शरीर और मन परस्पर अन्योन्याश्रित है। महाभारत में एक स्थान पर उल्लेख है कि शारीरिक आधि से मानसिक व्याधि से शारीरिक व्याधि का उद्भव होता है। इसीलिए महर्षि चरक ने सम्पूर्ण पुरुष की चिकित्सा पर बल दिया है। यदि एक अंग की चिकित्सा की जायेगी तो रोग का पुनः पुनः आक्रमण होता रहेगा। **'चिकित्स्यः पुरुषः'** इस सूत्र की विवृत्ति करते हुए आचार्य चरक पुरुष क्या है ? इसे स्पष्ट करते हैं"- **'सत्वमात्मा शरीरश्च त्रयमेतत् निदण्डवत्।'** मन, प्राण बुद्धि आदि अन्तःकरण, आत्मा तथा शरीर तीनों समवेत रूप से एक दण्ड के समान एक पुरुष की संज्ञा प्राप्त करते है। द्रव्य, औषधि तथा आहार-विहार से सभी रोगों की चिकित्सा सम्भव है। किन्तु उन रोगों का सदा-सदा के लिए अभाव केवल योग से ही सम्भव है। योगेश्वर श्री कृष्ण ने श्री मद्भगवद्गीता

* शरीराज्जायते व्याधि मानसो नात्र संशयः।
मानसाज्जायते व्याधिः शरीर इति निश्चयः। महाभारत।

में योग का लक्षण करते हुए इसी सिद्धान्त को इन शब्दों में स्पष्ट किया है। '**दु:ख संयोग वियोग: योग संज्ञित:**'।

आहार क्या है ?

सामान्य अर्थ मे हम लोग भोजन को ही आहार समझते है। यह सत्य है कि भोजन भी आहार है। किन्तु केवल शरीर का भोजन ही आहार नही है। देह, मन, बुद्धि, चित्त, प्राण, कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ आत्मा सभी का संघात ही तो मनुष्य है। अत: इन सभी को पुष्टि और तुष्टि देने वाली भोज्य, लेह्य, पेय, चोष्य पदार्थ एवं श्रव्य, दृश्य, विचार आदि सभी प्रकार के विषय भी हमारी इन्द्रियों तथा शरीर के आहार है। सूक्ष्म दृष्टि से जो कुछ हम शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध रूप से पार्थिव, जलीय, आग्नेय, वायव्य तथा मंत्ररूप ध्वनियों की आत्मा को आहुति देते है वह सब हमारा आहार है। इस व्यापक परिप्रेक्ष्य को जानकर ही आहार और योग का परस्पर सम्बन्ध समझा जा सकता है। क्योंकि योग सिद्धि की जितनी भी प्रक्रियायें है वे या तो मन के आश्रय से या प्राण के आश्रय से साधना में प्रवृत्ति देने वाली है। इस दृष्टि से मन को बल देने वाली सामग्री और प्राणों को बल देने वाली सामग्री आहार है।

छान्दोग्योपनिषद् मे आहार की परिभाषा की गयी है-

आह्रियते इत्याहार:। अर्थात् बाह्य एवं आन्तरिक उपादानों से जिस-जिस का आहरण, आकर्षण, ग्रहण या आत्मा के साथ संयोग किया जाय वह सभी आहार पदवाच्य है। काश्यप संहिता में भी ऐसा ही लक्षण मिलता है- '**स ह्याहरण सामान्याद्**'। शब्द निर्वचन की दृष्टि से आहार शब्द का तात्विक अर्थ भी लगभग ऐसा ही है। आङ् का अर्थ मर्यादा, नियम, हिताहित का ध्यान रखकर '**ह**' अर्थात् अपने उपयोग के लिए ग्रहण करना सद्भाव, साधुता तथा सात्विकता पूर्वक विषयों का सदुपयोग करना व्यापक अर्थ में योग सापेक्ष्य '**आहार**' शब्द का तात्पर्यार्थ हुआ। सभी प्रकार का आरोग्य युक्ताहार विहार के आधीन है। काश्यप संहिता मे भी निर्देश है कि योग सिद्धि के लिए भोजन की अनुकूलता आवश्यक है। जो ऊटपटांग, भक्ष्याभक्ष्य भोजन करते है वे योग के अधिकारी नही है। क्योंकि '**नायमात्मा बल हीनेन लभ्य:**- आत्मा साक्षात्कार के लिए सत्व (उत्साह) बल और आरोग्य इन तीन की नितान्त अनिवार्यता है। आचार्य कश्यप के अनुसार '**आरोग्यं भोजनाधीनम्**'- भोजन ही बल तथा आरोग्य प्राप्त करने का सर्व प्रथम आधार है।

आहार सेवन एक प्रकार का तप माना गया है। जो व्यक्ति अपनी जीभ की लोलुपता

1. रसायन आहार इति, तस्मिंस्त्वप्राणा:।-सुश्रुत

की संतुष्टि के लिए खट्टे, मीठे, चरपरे और अभक्ष्य पदार्थ अपने पेट रूपी कब्रिस्तान में हर समय डालता रहता है वह योग साधना का अधिकारी नहीं है। योगी के लिए तप आवश्यक है। महर्षि व्यास देव जी महाराज ने योगसूत्र व्यासभाष्य में लिखा है **'नातपस्विनो योगः सिध्यति।'** अर्थात् जो तपस्वी नहीं है वह योग की पूर्वसिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। हमारी जीभ हमारे जीवन को बनाने और नष्ट करने में बाधक और साधन दोनों ही है। जो इसका समुचित उपयोग करना जानता है, जिसके वश में जिह्वा है वह सिद्धयोगी बन सकता है। वाणी के सत्य प्रयोग से बचन सिद्धि प्राप्त होती है। ऐसा योग दर्शन के **सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'**- इस सूत्र का अभिमत है। इसी प्रकार जो स्वाद के लिए भोजन न कर अपने- निज स्वरूप की सतत याद के लिए भोजन करता है वह एक दिन आत्मसाक्षात्कार कर पाता है। हमारी समस्त इन्द्रियाँ एक-एक स्थान पर अकेली-अकेली हैं किन्तु जिह्वा में कर्मेन्द्रिय वाणी और ज्ञानेन्द्रिय रसना दोनों एकत्र है। अतः जिह्वा साधना द्वार की देहली है। इसके समुचित उपयोग से सिद्धि और दुरुपयोग से मृत्यु का वरण होता है। जल तन्मात्रा से जिह्वा तथा प्रजननेन्द्रिय दोनों का ही निर्माण हुआ है। जिसकी जिह्वा वश में है अर्थात् आहार और वाणी संयम है उसकी प्रजनेन्द्रिय का भी संयम हो पाता है। अर्थात् ब्रह्मचर्य तथा ऊर्ध्वरेतस् साधना अल्प प्रयास से सम्भव हो जाती है। जिसका आहार संयम नहीं हुआ उसकी ब्रह्मचर्य की साधना नहीं हो पाती। बिना ब्रह्मचर्य के बल, आयु, वीर्य, ओज, तेज और उत्साह कहाँ से आयेगा ? बल और तेज के बिना योग की बिन्दु और नाद की सिद्धि तथा तेजोमय आभा मण्डल की उपलब्धि कैसे होगी ? इसीलिए हमारे शास्त्रों मे आहार को भी तप माना है, और ब्रह्मचर्य को परंतप माना है। हितकर, मात्रानुरूप और बलवीर्यायुष्य कारक पदार्थों का भोजन एक प्रकार का तप कहा है-**'हितमित मेध्याशनं तपः।'** (श्रीभाष्य) श्रीमद्भागवद् में तो यहाँ तक दावा किया गया है कि जिसने जिह्वा को वश में कर लिया वह संसार को जीत सकता है। क्योंकि 'काम क्रोध लोभ मोह आदि विकार हमारे जिह्वा के आधीन भोजन की मात्रा, गुण और शुद्धि अशुद्धि पर निर्भर करते है। जो व्यक्ति इन विकारों के आधीन है वह अपने विकारों से ही पराजित है वह किसको जीत सकेगा। **'जिते जिह्वे जितं रसम्'**। तथा **'जिह्वयत्तौ बुद्धि विनाशौ,'** ये सिद्धान्त आहार शुद्धि और आहरणीय वस्तुओं के उपयुक्त चयन की शिक्षा देने वाले हैं। आयुर्वेद के प्राचीनग्रन्थ सुश्रुत में आहार को इस का पर्याय मानकर प्राणों का आधार रस को माना

1. अमृतं कल्पयित्वा तु यत्र समुपागतम्।
   प्राणाग्नि होत्र विधिना भोज्यं तद्धपयोमहम्।। (व्यास)
2. अकमशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषः भवति।
   यो मध्यमस्तन्मांसम्, योऽणिष्ठस्तन्मनः। (छन्दो०)

है।[1] रसतृप्ति से परमानन्द की उपलब्धि होती है। **'रसो वै सः'** यह श्रुत्युक्त सिद्धान्त रस की महत्ता का उद्योतक है। रसों में श्रेष्ठ रस गोरस माना गया है।

योगी के लिए उपयुक्त भोजन-भोजन का विचार करते समय भोक्ता की अग्नि, आयु, कर्म तथा प्रकृति देखकर भोजन की मात्रा, उसके पदार्थ तथा पथ्यापथ्य का विचार करना चाहिए। आहार सर्वोत्तम महाभेषज्र माना जाता है। अत: औषधि की तरह उसका सेवन देश, काल, आयु तथा अग्नि बल देखकर अनुकूल पदार्थों का सेवन करना चाहिए। भोजन में अन्न और जल, दूध-फल तथा मसाले, शरीर को निर्माण, ताप तथा शक्ति के लिए प्रोटीन, विटामिन, कार्बोहाइड्रेट, लवण, कैल्सियम फास्फोरस, आयरन आदि तत्वों के रूप में प्राप्त किये जाते है। अन्न के रूप में सीरियल-गेहूँ, चना जौ आदि पदार्थ होते है। 'अन्न' का निर्वचन होता है- **अद्यतेऽत्ति च भूतानि' तस्मादन्नं तदुच्यते।।** (तैत्वारीयोपनिषद) अन्न से ही प्राणी उत्पन्न होते है और वृद्धि प्राप्त करते है। प्राणियों द्वारा उसका भक्षण किया जाता है। तथा वह प्राणियों का भी भक्षण करता है अत: उसे अन्न कहते है। जब हम युक्तयुक्त भोजन करें तो वह हमारे लिए अमृत का कार्य करेगा। इसके विपरीत **'अतिभोजनं रोगमूलम्'** सिद्ध होता है। आहार के नियम के विषय में योगवशिष्ट में उल्लेख है कि नेक कमाई का प्राणरक्षा के लिए किया गया आहार योगसिद्धि में सहायक होता है। हिंसा, परपीड़न और जिह्वा लौल्य की तुष्टि के लिए किया गया भोजन ध्यान योग साधना में विघ्न उपस्थित करता है।

'अन्नाहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्य'।
कुर्यादाहारं प्राण संधारणार्थम्।
प्राणाः सन्धार्यास्तत्व जिज्ञा सार्थम्।
तत्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न दुःखम्।।

याज्ञवल्क्य स्मृति में उल्लेख है कि जो बना सामने आये उसको अमृतमय मानकर प्राणाग्नि होत्र विधि से किया गया भोजन पापनाशक होता है।[1] अन्न की स्तुतिकर नमन कर **ॐ प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा........**इस विधि से प्रथम आहुति दें।

---

1. द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत्।
वायोः सञ्चरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्।।
2. मिताहार बिना यस्तु योगारम्भञ्च कारयेत्।
नाना रोगो भवेत्तस्य किञ्चिद् योगो न सिध्यति।।
3. ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा।।
4. अभ्यास काले प्रथमे शस्त्रं क्षीराज्य भोजनम्।
ततोऽभ्यासे दृढ़ीभूते न ताहङ्नियमग्रहः।।

ऐसा नीतिकारों का मत है। बकरी की तरह चबा-चबा कर धीरे-धीरे खाने वाले को क्रोध नहीं आता। जल्दी-जल्दी खाने वाले अशान्त रहते है ध्यान रहे कि हम जैसे खायेंगे वैसा ही हमारा मन बनेगा। **'अजवत् चर्वणं कुर्यात् गजवत् स्नानमाचरेत्'**-छान्दोग्योपनिषद में अन्न के विज्ञान का विशद वर्णन उपलब्ध है। खाया हुआ भोजन तीन भागों में विभक्त होता है, उसका स्थूल भाग पुरीष (विष्ठा) बनता है और मध्यम भाग (मांस आदि शरीर की धातु) तथा सूक्ष्म भाग मन बनता है।' शरीर और मन में जितनी सतोगुण की वृद्धि होगी उतनी-उतनी नीरोगिता तथा धारणा-ध्यान समर्पित (मन की एकाग्रता) उपलब्ध होगी। अतः साधक का भोजन सात्विक स्निग्ध, इष्ट तथा उचित मात्रा में ऋतु को अनुकूल होने पर शरीर और मन स्वस्थ रहेंगे। इसी नियम की पुष्टि आचार्य बृहस्पति के इस कथन से होती है- **सर्वेषामेव शौचानामन्न शौचं विशिष्य ते।**

सभी प्रकार की शुद्धि में अन्न की शुद्धि विशेष महत्वपूर्ण है। शुद्ध अन्न की शर्त आज के वातावरण में एक कठिन समस्या है। आज प्रत्येक व्यक्ति चाहे अनचाहे दो सौ ग्राम यूरिया का सेवन कर लेता है जो उसके हृदय, वृक्क (Kidney) व दृष्टि को हानि पहुँचाते है।

आहार का पवित्र और परिमित होना योगाभ्यास के लिए परम आवश्यक है। दिन का आहार चाहे जैसा हो किन्तु रात्रि का भोजन सदा लघु होना चाहिए। अतिभोजन तथा अधिक उपवास दोनों ही योगाभ्यास के लिए हानिकर है। श्री शंकराचार्य का मत है कि योगी को आत्मसम्मित भोजन ही करना चाहिये उससे अधिक या न्यून नहीं।

'तस्माद् योगी नात्मसम्मितादन्नदधिकं न्यूनं वा अश्नीयात्।[2]

योगशास्त्र में उल्लेख है कि योगी को उदर के दो भाग अन्न द्वारा और एक भाग जल के द्वारा पूर्ण करने चाहिये तथा चौथा भाग वायु के संचरण के लिए खाली रखना चाहिये।[1]

प्रत्येक साधक को हित, मित और ऋत्‌भुक् होना चाहिए। योगाभ्यास के समय मिताहार न करने वाले को रोग के रूप में योगविघ्न घेर लेते है जिससे योगसिद्धि नहीं हो पाती।[2] योगसिद्धि के लिए आवश्यक है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ मिताहार का योग साधना करें। इस प्रकार नियम के पालन से एक वर्ष में योग सिद्धि प्राप्त कर सकता है।[3] योग साधक को उपवास करना निषिद्ध है। **मार्कण्डेय पुराण** में उल्लेख है कि योगाभ्यास के प्रारम्भ में दुग्ध और घृत का पर्याप्त मात्रा में सेवन करना हितकारक है। अभ्यास सुदृढ़ हो जाने पर इस प्रकार का विधि निषेध नहीं है।[4]

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में योगी के आहार का प्रामाणिक और सर्वांग पूर्ण विवेचन उपलब्ध है। सात्विक, राजसिक तथा तामसिक ये तीन प्रकार के आहार इन तीन गुण

प्रधान मनुष्यों को प्रिय होते हैं जिसमें सतोगुणी को निम्नलिखित योगसिद्धि में सहायक आहार प्रिय होते हैं-

'आयु: सत्व बलारोग्य, सुख प्रीति निवन्धना:।
रस्या: स्निग्धा: स्थिरा हृद्या आहारा: सात्विक प्रिया:।।

आहार से शरीर, मन, प्राण, चित्त और बुद्धि का निर्माण होता है। सात्विक आहार आयुवर्द्धक होता है। गाय का घृत आयुवर्द्धक है। इसीलिए वेदों मे **आयुर्घृतम् 'आयुरेवेदं'** जैसे वाक्य कहे गये है। महर्षि चरक ने वायु को ही आयु, बल व जीवनरक्षक कहा है। **'वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम्। वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तित:।** अत: वायु को सम रखने वाले आहार आयुवर्द्धक है। **'प्राणों हि भूतानामायु:'** यह तैत्तरीयोपनिषद का भी सिद्धान्त है। गोदुग्ध तथा गोघृत अमृत है। इसमें पीलापदार्थ स्वर्णांश आयुवर्द्धक माना जाता है तथा प्राणों को सम रखता है। घृत से मन मे उत्साह वृद्धि होती है। बलवृद्धि दुग्ध से होती है। कहा जाता है कि **'सद्य:बलकर पय:'** दुग्ध तुरन्त बल देने वाला है। तिक्त द्रव्यों से आरोग्य लाभ होता है जैसे नीम। सुख बढ़ाने वाला मधु है। शालीधान्य से निर्मित पायस तृप्ति देती है। रसयुक्त पदार्थ जैसे मीठे फल और रसादि उनसे शरीर का ताप सम रहता है। शरीर मे ठंडक बहती है। मक्खन, मट्ठा, तेल स्निग्ध पदार्थ है। शरीर को स्थिर रखने वाले पदार्थ शरीर के सारांश को पुष्ट करने वाले होते हैं। ऐसे पदार्थों मे हविष्यान्न प्रमुख है जो हृदय को सुखद् हो वैसे पदार्थ बेलपर लगने वाले-लौकी, तोरई, आदि तथा भिंडी, घृतमधु मिश्रित पदार्थ तथा त्रिफला, त्रिकटु ये सात्विक आहार की कोटि मे है। मधुर रस के स्वत: पके हुए फल तथा अन्य पदार्थ प्राय: सात्विक होते है नीम चिरायता जैसे कटु, इमली, आम जैसे अम्ल पदार्थ, अति नमकीन अतिठण्डा, अतितीक्ष्ण जैसे मिर्च अतिरूक्ष जैसे कंगुनी, कोदो आदि स्नेहहीन दाह उत्पन्न करने वाले सरसों, कांजी जैसे पदार्थ भुने चावल, भुने चने आदि दु:ख देने वाले व्याधि उत्पन्न करने वाले राजसिक आहार योगाभ्यासी को वर्ज्य है। इसी प्रकार एक प्रहर पूर्व बनी ठंडी हो गयी वस्तु, नीरस, दुर्गन्धियुक्त दूसरे दिन का पकाया हुआ, दूसरे का-जूठन, अमेध्य अर्थात् अभक्ष्य पशु-पक्षी आदि का मांस तामसी आहार होने से योगाभ्यास में विघ्नकारक है। योगाभ्यास मे विभिन्न साधनार्थ के फलस्वरूप प्राण सुषुम्नावाही होते है अशुद्ध आहार सेवन से प्राणों की गति विच्छिन्न हो जाती है। और एकाग्रता भंग हो जाती है। इसी को गीता में **'धर्म संस्थापनाय'** कहकर इंगित किया है भोजन मे स्वेच्छाचार और असंयम होने से शरीर, मन, प्राण और बुद्धि का सामन्जस्य तथा साम्यशक्ति का ह्रास होने से रोग और दु:खों का प्रादुर्भाव होता है वही देह का अधर्मयुक्त होना है। शरीर रक्षा के लिए यथाविहित नियम पालन करना भी धर्म संस्थापना है। इन्द्रिय मन, बुद्धि और प्राण मे रोग के कारण विरुद्ध धर्म उत्पन्न होकर उनको विकृत कर देते

है उसे औषध सेवन संयम नियमन तथा पथ्य सेवन से पुनः प्रकृतिस्थ करना धर्म संस्थापन कार्य योग की शरण में जाने से होने लगता है। प्राकृतिक नियमों के अनुसार भोजन करने से धर्म अर्थात् साम्यभाव प्राप्त होता है। यही योगाभ्यास का प्राप्तव्य है।

योग साधना में सहायक भोजन के सम्बन्ध में विभिन्न योग ग्रन्थों में यत्र-तत्र संकेत मिलते हैं। यथा अच्छे पवित्र स्थान से उत्पन्न गेहूँ, मूँग, यव, धान तथा घी, दूध, मक्खन, मधु, मिश्री, सोंठ, परवल, ऋतुफल, पालक, मेथी, बथुआ, चौलाई, लौकी, तोरई, बैंगन, कद्दू, (कुष्माण्ड) करेला आदि शाक योगाभ्यासी के लिए सुपथ्य हैं।

'गोधूम शालि यव षाष्ठिक शोभनान्नं,
क्षीरसज्य खण्ड नवनीत सितामधूनि।
शुष्ठि पटोल फलादिक पञ्च शाक,
मुद्गादिदिव्य मुदकं च यतीन्द्र पथ्यम्।।

योगाभ्यासी के लिए निषिद्ध आहारों में हैं- मांस, अंडे, दही, कुलथी, लशुन, प्याज, शाक, कटु, अम्ल, तिक्त, तिल की खली, हींग, बेर, सरसों का तेल तथा ठंडी हुई वस्तु को पुनः गर्म करके खाना आदि।

'माँसं दधि कुलत्थंच लशुनं शाकमेव च।
कट्वम्ललतिक्त पिण्याक हिंगु सौवीर सर्ष वाः।।
तैलं च वर्जन्येतानि यत्नतो योगिना सदा,
पुनरुष्णीकृतं द्रव्यसहितं चेति के चन।।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, शौच तथा मिताहार ये दशविध नियम त्रिशिखोपनिषद् में निर्दिष्ट है। वस्तुतः ये सभी नियम, शरीर, मन, प्राण, बुद्धि के आहार का संयम ही है। **योग कुण्डली उपनिषद** में उल्लेख है कि चित्त के चंचल होने का कारण वासना और वायु है। इनमें से एक के नष्ट करने से दूसरी स्वतः विनष्ट हो जाती है। अतः प्रथम वायुजय करने के लिए मिताहार, आसन तथा शक्तिचालन क्रियाओं का दृढ़ाभ्यास करना चाहिए। मिताहार में प्राण स्थिर करने वाले तथा वायु को कुपित न करने वाले पदार्थ खाना परम हितकर है। मिताहार सुस्निग्ध, मधुररस के पदार्थ, शिव प्रीति के लिए ग्रहण करना कहा गया है।

प्राणायाम का अभ्यास करने वाले को योगचूड़ामणि उपनिषद् में स्पष्ट निर्देश है कि-**'कडम्ल लवण त्यागी क्षीरभोजनमाचरेत्'** अर्थात् ऐसे पदार्थ जो कटु, खट्टे और नमकीन हैं उन्हें न खा मधुर पदार्थ दुग्ध और घी का अधिक सेवन करें जिससे ब्रह्मचर्य पालन में बाधा न हो। अधिक उत्तेजित पदार्थ ब्रह्मचर्य नाश के कारण होते हैं।

आहार का समय तथा मात्रा-जठराग्नि के बलाबल के अनुसार सभी का आहार

पथ्य है। आयुर्वेद की मान्यता है कि अग्नि ही मनुष्य के बल का आधार है। यदि भुक्तान्न का ठीक से परिपाक न हुआ तो वह आंव उत्पन्न करेगा। आंव के रहते निरामया, निरोग कैसे हो सकेगा ? आरोग्य भोजन की मात्रा तथा उसके जीर्ण (उचित परिपाक) द्वारा रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा, बल, वीर्य, कान्ति, तेज, मेधा और आयु के द्वारा सम्पन्न होता है। एक रस का सदा सेवन भी पथ्यकर नहीं माना गया। अदल-बदल कर शरीर को षट् रसों की आवश्यकता है। स्वल्प मात्रा में यदा-कदा दाहक पदार्थ लेना उतना अहितकर नहीं है जितना उनका दैनिक सेवन। आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि सभी रस मिलाकर सेवन करना चाहिए। उनमें प्रधानता घी, दूध तथा मधुर कटुकषाय रसों की होनी चाहिये। उड़द और मूँग, गेहूँ का दलिया सदा पथ्य है। धारोष्ण गौदुग्ध अमृत तुल्य माना गया है। आचार्य चरक कहते है कि **क्षीरघृताभ्यासो रसायनानाम् श्रेष्ठतमः।** दुग्ध और घी का भोजन सदा ही सभी रसायनो में सर्वोत्तम है। इससे प्राण शक्ति बलिष्ठ होती है। अन्यत्र कहा गया है-

आयुर्घृते गुडे रोगा नित्यम मृत्युर्विदाहिषु।
आरोग्यं कटुतिक्तेषु बलं माषे पयस्तु च।।

अर्थात् घी आयु, गुड रोग जलन पैदा करने वाले पदार्थ मृत्यु, कटु तथा तिक्त पदार्थ आरोग्य, उड़द की दाल और दूध बल प्रदान करते है। इसी प्रकार आम्रफल सर्वोत्तम फल माना गया है।

आहार की मात्रा के विषय में घेरण्ड ऋषि का मत है कि उदर का आधा भाग अन्न से पुर्णत करें एक तिहाई भाग जल से तथा चतुर्थांश भाग वायु के संचरण के लिये सुरक्षित रखें।

'अन्नेन पूरयेदर्धं' तोयेन तु तृतीयकम्।
उदरस्य तुरीयांशं संरक्षेद्वायुचारणम्।। (घेरण्ड संहिता)

योग शास्त्र का निर्देश है कि हितकारी भोजन स्वल्प मात्रा में थोड़ा-थोड़ा कर कई बार करने से मन्दाग्नि नहीं होती। अग्नि दीप्त बनी रहती है। जैसे अग्नि में थोड़ी-थोड़ी देर के बाद अल्प मात्रा में आहुति देते रहने से अग्नि प्रदीप्त रहती है तथा आहुत पदार्थ भस्मसात हो जाता है उसी प्रकार योगी का भोजन नियम होना चाहिये। कहा गया है- **'हितं मितं च भोक्तव्यम् स्तो कं स्तो कमनेकधां'** दूसरा सिद्धांत है कि दिन में एक बार भोजन करने से सदा आरोग्य रहता है। 'जितनी बार खाना उतनी बार पैखाना' यह लोक कहावत भी प्रसिद्ध है। दो बार के भोजन से बल प्राप्ति और तीन बार के भोजन से व्याधि तथा चार बार से मृत्यु प्राप्त होती है। किन्तु स्त्रियों के आहार की मात्रा दुगुनी होती है **स्त्रीकं द्वि गुणो आहारः चर्तुगुणा लज्जाः।**

एक भुक्तं सदारोग्यं द्विभुक्तं बलवर्द्धनम्।
त्रिभुक्ते व्याधि पीड़ा स्यात् चतुर्भुक्ते मृतिर्ध्रुवम्।।

एक बार खाये योगी, दो बार खाये भोगी, तीन बार खाये रोगी। वैसे भूख लगने पर समय असमय का कोई विचार नहीं है। **'क्षुधातुराणां रुचिर्न बेला'** वृन्दमाधव का मत है कि वैसे मनुष्य का भोजन करने का नियत समय होता है उसका अतिक्रमण ठीक नहीं। श्रेष्ठ भूख होने पर आधी रात को भी खा लेने पर कोई व्याधि नहीं होती-

अर्धरात्रेष्पि भुञ्जानः परमार्थ बुभुक्षितः। क्षुधो वैद्य परित्यागी व्याधिभिः नमः अभूयते। व्यक्ति की अवशोषण (Absorption) तथा सात्मिकरण (Assimilation) की शक्ति पर भोजन का समय और मात्रा निर्भर करती है। **चरक के मतानुसार-मात्रा द्रव्याण्याक्षेयसे मात्रा चाभिमपेक्षते।** द्रव्यों की गुरुता, अघुता तथा भोक्ता की अग्नि पर मात्रा निश्चित होती है।

जल का सेवन-पदार्थ के साथ जल की आवश्यकता है हमारी जिह्वा में रस ग्रन्थियाँ हैं जो अन्न भोजन करने से आच्छादित हो जाने से लार का स्राव नहीं कर पाती। लार के बिना भोजन में पाचक रस नहीं मिल पाते। अतः भोजन के मध्य-मध्य में जलपान करना हितकर माना गया है। अजीर्ण की स्थिति में तो जल भेषज है। **'अजिर्णभेषजं वारि तथा अजिर्णभोजनं विषम'** कहा जाता है। **'आपोविश्वस्य भेषजाः'** भी वेद में कहा गया है। क्योंकि जैसे अन्य के सूक्ष्म भाग से हमारा मन बनता है। वैसे ही जल के सूक्ष्म भाग से हमारी प्राण शक्ति बनती है। **'जैसा पीबे पानी वैसी होवे बानी'** यह लोकोक्ति इसी सिद्धान्त को रेखांकित करती है। कूपोदक योग साधना के लिए उपयोगी माना गया है। क्योंकि यह प्रकृत्या ऋतु अनुकूल गुण कारक होता है। चाणक्य नीति जातक में एक जगह उल्लेख है कि निम्नलिखित वस्तुएं सदा पथ्य है- कूप जल, वटवृक्ष की छाया, श्यामास्त्री ईंटों का घर-क्योंकि ये ग्रीष्म ऋतु में ठंडे और शीत ऋतु में उष्णता देते हैं।

'कूपोदकं वटच्छाया, श्यामास्त्री, क्चेष्ट कालयम्।
शीतकाले भवे दुष्णमुष्ण काले च शीतलम्।।

जलपान के सम्बन्ध में चाणक्य का मत है-

अजीर्णे भेषजं वारि जीर्णे वारि बलप्रदम्।
भोजने चामृतं वारि भोजनान्ते विषप्रदम्।।

अजीर्ण अवस्था में जल औषध सदृश है भोजनान्त तीन घंटे बाद जल बलवर्धक, भोजन के मध्य मध्य में थोड़ा-थोड़ा जल सच्युत्पादक होने से अमृत तुल्य तथा भोजन के अन्त में जल पाचक रसों को घोल देने के कारण भोजन को पतला कर शौच मार्ग

की ओर धकेल देता है अतः विष तुल्य माना गया है। क्षेम कुतूहल में भी उल्लेख है कि अधिक जल पीने से अन्न का पाचन ठीक नहीं होता तथा पानी बिलकुल न पीने से भी यही दोष है अतः जठराग्नि वर्धन के लिए बार-बार थोड़ा-थोड़ा जल पीना चाहिए घी तथा जल ताज़ा हितकर होता है किन्तु अन्न और सेवक पुराना हितकर माना गया है।

भोजन शुद्ध तो हो ही साथ ही पवित्र भी होना चाहिए। पवित्रता के साथ, पवित्र व्यक्ति के मन के द्वारा, पवित्र स्थान पर पवित्र पात्रों में, पवित्रता से बैठकर शान्तचित्त से एकान्त में बैठकर किया गया भोजन योग साधना में सहायक है। विरुद्ध संयोग से ही गुण के स्थान पर भोजन में दोष उत्पन्न होते है। यथा दूध और मूली एक साथ खाने से सफेद दाग हो जाते है। घी और मधु समान मात्रा में विष का काम करते है। हर एक व्यक्ति के हाथ का भोजन विघ्न कारक है। सुगन्ध युक्त सुस्वादु भोजन सत्कर्म और सद्धर्म में प्रवर्त करता है। दुर्गन्ध युक्त भोजन दुष्कर्म और अधर्म में प्रवर्त कारक है। माँस, मछली, शराब, अंडा, लहसुन, प्याज जैसे पदार्थों के सेवन से शरीर में दुर्गन्ध व्याप्त हो जाती है। देवता दुर्गन्ध को पसन्द नहीं करते सुगन्ध को पसन्द नहीं करते। पिशाच और राक्षस दुर्गन्ध युक्त तामसिक आहार करते है। वेद मंत्र कहता है कि **'देवानां सख्यम् उपसेदिका वयम्'**- अर्थात् हमें देवाताओं की मित्रता प्राप्त हो। **'समानशीलव्यसेषु सख्यम्'**। देवों को जो प्रिय है वैसा ही दिव्य सुगन्धों से युक्त पदार्थ सेवन करने पर इन्द्रियों के देव हमारी इन्द्रिय शक्तियों की वृद्धि करेंगे तथा योगेश्वर्य प्रकट हो जायेगा।

विश्व परिवर्तन होने ही वाला है !

प्रतिक्षण अनुभव करो कि ईश्वर का प्यार एवं आत्माओं के साथ **स्नेह सम्बन्ध**, स्नेह व्यवहार मुझे तृप्त कर रहा है। प्यार की बयार मुझ **आत्मा को आप्लावित कर रही है, हम प्रकृति व प्राणी सभी के प्रेम** पात्र है, सभी हमारे प्रेम पात्र हैं, शान्ति की शीतल लहरें मुझ आत्मा को शीतल कर रही हैं, सम्पूर्ण विश्व में शान्ति छाई हुई है, समस्त आत्माएँ शान्ति पुंज बनकर शान्ति फैला रही हैं, चल-अचल सभी शान्त एवं प्रेमपूर्ण है। मन परिवर्तन हो रहा है। सबके स्वभाव में और व्यक्तित्व में दिव्यता आ रही है। विश्व परिवर्तन होने ही वाला है।

किमस्ति योग :

रचनाकार : द्वारकाप्रसाद शर्मा, लखनऊ।

'किमस्ति योगः' (योग क्या है ?) शीर्षक के अन्तर्गत मूलरूप मे महर्षि पतंञ्जलि के योग सूत्रों पर आधारित सूत्रों की व्याख्या संस्कृत श्लोकों मे की जा रही है। यह उसी क्रम मे छठी कड़ी है। इससे पूर्व बीस-बीस श्लोको की पाँच किश्तों मे उक्त शीर्षक से रचनाओं के प्रकाशन का क्रम हम सबके परमाराध्य प्रातः स्मरणीय, अनन्त श्री विभूषित, योग योगेश्वर श्री सद् गुरुदेव चन्द्रमोहन जी महाराज के करकमलों से संस्थापित व संचालित 'सिद्धयोग' पत्रिका के पूर्वाङ्क मे जारी है। हिन्दी भाषा मे रूपान्तरण मात्र इस उद्देश्य से दिया जा रहा है कि जो सज्जन या साधक जन संस्कृतज्ञ नही है वे भी उसके अर्थ का बोध कर सकें।

क्योंकि महर्षि पतंञ्जलि द्वारा प्रणीत 'योगदर्शन' सूत्र रूप मे है और षड्दर्शनों मे से एक 'आस्तिक दर्शन' के नाम से ख्यात है। अतः वह सूत्र रूप मे लघु-आकार का होते हुए भी आचरण मे लाने की दृष्टि से ऐसा गहन व जटिल शास्त्र है जिसे जीवन पर्यन्त भी यदि आचरण-व्यवहार मे लाया जाय तब भी उसका पार पा लेना या उसमें पारंगति की स्थिति एक अत्यन्त दुस्साध्य कृत्य के समान है। परन्तु श्री सद्गुरुदेव के अनुग्रह के जो भी साधक पात्र हो चुके है उन्हे वे करामलकवत करा दिया करते है।

एक और बात का उल्लेख कर देना चाहता हूँ और हमारे पाठ्कवृन्द भी इस बात का प्रत्यक्ष दर्शन व अनुभव कर चुके होंगे कि हमारे परमाराध्य को दो सद्ग्रन्थ तो अतिशय प्रिय थे। पहला 'श्रीमद्भगवदगीता' और दूसरा 'पातञ्जल-योगदर्शन'। योगदर्शन पर भी व्यास टीका का स्थान-स्थान पर उन्होंने स्वरचित ग्रन्थों मे उल्लेख किया है। पूज्यपाद श्री गुरुदेव आचरण को ही अत्यधिक महत्त्व दिया करते थे। श्री सद् गुरुदेव की उक्त दोनो सद्ग्रन्थों मे अतिशय प्रीति के कारण ही न जाने किस

अन्तः प्रेरणा ने मुझे बलात् इन्हीं दो ग्रन्थों के आधार पर लेखने में प्रवृत किया है जो 'किमस्ति योगः' शीर्षक से आरब्ध है और अब इस रचना क्रम की प्रस्तुत छठी कड़ी के मूल रूप में संस्कृत श्लोकों में लिखित विषय-वस्तु का श्लोकों के क्रमानुसार हिन्दी में भावानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रस्तुत रचना में समाधिपाद के अन्तर्गत निम्नलिखित चार सूत्रों का आधार लेकर रचना की गई है।

–पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

–तस्य वाचकः प्रणवः।

–तज्जपस्तदर्थ भावनम्।

–ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरा भावश्च।

स ईश्वरः सर्वसमर्थ युक्तः, कालस्य सीमा न हि तत्रा वर्तते।
कालं व्यतिक्रम्य विराजते सः, सैवेश्वरोऽस्ति कथितो महर्षिणा।।१।।

–वह ईश्वर सर्व सामर्थ्य से युक्त है। ईश्वर के लिये काल की कोई सीमा नहीं हुआ करती अर्थात् वह किसी काल की सीमा से बंधा नहीं हुआ करता। वह तो काल का भी अतिक्रमण करके सदैव विराजमान रहा करता है। उसी ईश्वर का महामुनि पतंञ्जलि द्वारा उल्लेख किया गया है।

सन्तीह भुवि यावन्मात्रा प्राणिनः, सर्वेऽपि ते कालक्रमानुजीविनः।
काल प्रभावं व्यतिरिच्य विद्यते, पतञ्जलिनऽभिहितः स ईश्वरः।।२।।

– इस पृथ्वीतल पर जितने भी प्राणी हैं वे सबके सब एक काल परिणाम के अन्दर ही जीवन धारण करते हैं। काल के प्रभाव से सर्वथा अप्रभावित है तो वही एक 'ईश्वर' है जिसे महर्षि पतंञ्जलि ने अभिहित किया है अथवा कहा है।

कालातीतः स गुरुः प्राक्तनानां, सर्वेषान्तु येऽभवन् यत्र यत्र।
कालेनापि नोऽप्यवच्छेदकात् सः, गुरुर्गुरुणां पुरुषः स ईश्वरः।।३।।

–वह कालातीत पुरुष विशेष ईश्वर पूर्ववर्ती समस्त गुरुओं का भी एक

गुरु है। जो भी जहाँ-जहाँ जिस काल मे हुए हो। महर्षि प्रणीत सूत्र 'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात के अनुसार, काल से अनवच्छिन्न ही, पुरुष विशेष ईश्वर है।

आत्मा, गुरूश्चेश्वर एव सर्वे, नाम्ना हि भिन्ना न हि वस्तुतस्ते।
प्रकाश्य ज्ञानं विनिध्नन्त्यज्ञानं, पारस्परैक्यं त्वतएव सिद्धम्।।४।।

–आत्मा, गुरु तथा ईश्वर ये तीनों तत्व केवल नाम से ही भिन्न प्रतीत होते है, यथार्थतः ऐसा है नही। तीनों ही ये तत्व प्रकाश का संचरण करते हैं और अज्ञान का हरण करते है। अतः ये तीनों ही पारस्परिक रूप से भी एक और अभिन्न सिद्ध हो जाते है।

गुरक्षरं यत्तमसोऽभिव्यञ्जकं, रूरक्षरं तत्तमसोऽपनोदकम्।
गुरूः स एवास्ति तमांस्यपहृत्य, अज्ञान माहृत्य ददाति ज्ञानम्।।५।।

–'गु' यह अक्षर अन्धकार का द्योतक है और अक्षर 'रु' नाशक अर्थ को धारण करता है। गुरु, अतएव, वही हुआ जो ज्ञान रूप अन्धकार को दूर करके प्रकाश रूप-ज्ञान का संचार कर दिया करता है।

अस्मद्गुरूभिः स्वमुखाब्ज वक्त्रात्, प्रायः प्रवचनेषु समुलमेतत्।
गुरूस्तत्व मेकं न तत्रा द्वितीयं, न कालावच्छिन्नो न देशावच्छिन्नः।।६।।

–हमारे सद्गुरूदेव निज मुखारविन्द से प्रायः प्रवचनो के मध्य कहा करते थे कि 'गुरुतत्व' एक ही है, वहाँ दूसरे के लिये स्थान है ही नही। वह न कालावच्छिन्न होता है और न ही देशावच्छिन्न। अर्थात् वह काल तथा देश किसी हद या सीमा-विशेष से कतई बंधा नहीं हुआ करता।

रूपं तदीशस्य विनिश्चितुं ततः, महर्षिणाऽग्रे ग्रथिते स्वसूत्रे।
तद्वाचकं 'प्रणव' शब्दमुदीरितं वै, प्रकृष्टेण न व एव यतः स प्रणवः।।७।।

–अब उस ईश्वर विशेष का क्या आकार-प्रकार है इसको निर्धारित करने के प्रयोजन से महर्षि पतंञ्जलि द्वारा अगले सूत्र का प्रणयन किया गया। अगला सूत्र है 'तस्य वाचकः प्रणवः'– उस ईश्वर को बताने वाला शब्द है 'प्रणव'– प्रणव शब्द का अर्थ शाब्दिक व्युत्पत्ति से होता है कि अतिशय रूप से

जो नव ही नव हो इसीलिये वह 'प्रणव' वाच्य हुआ करता है।

नवं नवं कर्त्तुमलं यतः सः, कर्त्तुमकर्त्तुं च यथेच्छकर्त्तुम्।
इत्थं समर्थः प्रभवेद्यतोऽसौ, स एव प्रणवोऽस्ति तथेश्वरः स्मृतः।।८।।

–वह नया ही नया करने की सामर्थ्य वाला भी हुआ करता है। वह जो चाहे कर दे, जो चाहे नही करे और स्वेच्छा से कर देने की सामर्थ्य को धारण करने वाला भी हुआ करता है। इस प्रकार की सामर्थ्य-शक्ति के प्रभाव से युक्त वह 'प्रणव' भी ईश्वर पद वाची ही है।

को वास्ति विज्ञोऽनभिज्ञो भवेद्यः,
महिम्नस्तु प्रण वस्य तथा च वर्चसः।
समाहितोऽस्मिन् त्रायदेवरूपं,
विधेर्विमोश्चापि महेश्वरस्य।।९।।

–ऐसा कोई विज्ञ है जो इस बात से अनभिज्ञ हो कि प्रणव की महिमा तथा उसका वर्चस्व क्या है। त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु व महेश) इसी प्रणव में समाहित है।

अ इ उ वर्ण कैस्त्रिभिः, अनुस्वारान्वितं तु यत्।
ओंकारेण समाख्यातं, प्रणवः स उदाहृतः।।१०।।

– अ, इ, उ इन तीनो वर्णों से अनुस्वार युक्त ओंकार (ॐ) ही प्रणव का स्वरूप है।

गुर्वा प्रणवो वापि, ईश्वरो वापि योऽपि सः।
एकमेव तु तत्वं तत्, नो भेदो तत्र विद्यते।।

–गुरु हो, प्रणव हो अथवा चाहे ईश्वर हो, सभी एक ही तत्व के बोधक है। यहाँ इनमें किसी प्रकार का कोई भेद है ही नहीं।

समाहितास्तु प्रणवे तथेश्वरे, गुरावमी च त्रायदेवरूपाः।
सश्रद्धजपनं मननं च तेषां, कथंन कस्यापि भवेतु भूतये।।१२।।

–प्रणव में, ईश्वर में, तथा गुरु में त्रिदेव का स्वरूप समाहित हुआ करता

है। उनका श्रद्धापूर्वक जप करना और मनन करना क्यों नहीं किसी व्यक्ति विशेष के लिये कल्याण कारी होगा।

एतदेवाग्रिमे सूत्रो, प्रोक्तं सर्वं महर्षिणा।
जपनं सार्द्धमर्थेन, सिद्धिं दातुं समर्हति।।१३।।

– इसी बात को अग्रिम सूत्र मे महर्षि पतंञ्जलि द्वारा और सुस्पष्ट करते हुए कहा गया है। अर्थ सहित किया गया किसी भी मन्त्र का जाप उसका मनन करते हुए चिन्तन सिद्धिदायक हुआ करता है।

सार्थं जपेनास्ति महत्प्रभावः, मनः स्थैर्यमाप्नोति तदर्थ चिन्तनात्।
अर्थे तदीये स्थिर बुद्धिभावात्, एकाग्रतां तन्मनसो नयेच्च।।१४।।

– अर्थ सहित भावना करते हुए किया गया जप महान प्रभावशाली हुआ करता है। इस प्रकार चिन्तन मनन समेत कृत जपन मन को उसी मे स्थिर बुद्धिभाव से लगे रहने के कारण अद्‌भुत मन की एकाग्रता प्रदान करने की सामर्थ्य प्रदान करने वाला हो जाया करता है।

निरन्तरं तन्मननात च जपनात्,
स्थाने च नियते समयानुसारि।
योगी समाप्नोति शनैश्शनैश्च,
प्रत्यक्षिभूतं स्वस्वरूपचेतनम्।।१५।।

– इसके अतिरिक्त, निरन्तर मनन सहित जपन से, एक नियत स्थान व समय मे किया गया जाप, धीरे-धीरे योगी को निज वास्तविक स्वरूप का आभास प्रदान कराता है।

विघ्ना: समायान्ति सुनिश्चितं तत्, **परन्तु** तेऽपि क्षयतां प्रयान्ति।
अभ्यास बुद्धया परया हि निष्ठया, **किं** किं न साध्यं वद मित्रमव।।१६।।

– यह सुनिश्चित है कि योगमार्गाधिरूढ़ व्यक्ति को विघ्न तो अवश्य रूप मे आते है। परन्तु वे निरन्तराभ्यासी व्यक्ति के क्षय होते रहते है। हे

मित्र ! यह बताओ, कि जब किसी अन्य क्षेत्र विशेष में अभ्यास की तीव्रता लिये और अतिशय लगन से किया गया कार्य अभीष्ट परिणाम दिया करता है तो क्या अभ्यास की अतिशयता और लगनपूर्वक प्रवृत्ति इस क्षेत्र में अभीष्ट फलदात्री नहीं होगी, ऐसा कैसे हो सकता है। क्या-क्या सिद्ध नहीं हो सकता। मात्र चाहिये निरन्तराभ्यास और वह जुड़ा हो निष्ठा व श्रद्धा युक्त हो।

विघ्ना कदा कस्मिन्कर्माणि नो, विघ्नान्नुलंघ्य यतते सततं सुयोगी।
तत्सन्मुखं केवलमेकमेव, एकैव लक्ष्य तन्मन्त्रजापः।।१७।।

–विघ्न किस कर्म में नहीं होते हैं। सुयोगी तो वह है जो विघ्नों को लाँघता हुआ सदैव अभीष्ट लक्ष्य के ही प्रति सदैव यतमान व चेष्टावान बना रहे। उसका तो एकमात्र ध्येय-लक्ष्य प्रदत्त मन्त्र जाप ही रहना चाहिये।

मनसि वचसि भूयो यावदर्थेन सहितं,
जपति विधिसमेतं मन्त्रदत्तं च गुरूभिः।
स भवति खलु योगी योग मार्गाधिरूढः,
सतत वितत विघ्नान् जेतुमस्ति समर्थः।।१८।।

–मानसिक रूप से और वाचिक रूप से अर्थात् मन में बैठाते हुए मन को उसके अतिरिक्त किसी और चिन्तन का अवकाश ही न देते हुए तथा वाणी से, जिह्वा से गुरु प्रदत्त मन्त्र का जो विधिपूर्वक जपन करते हैं वे योगमार्गाधिरूढ़ योगी ही सतत् आने वाले विघ्नों पर विजय प्राप्त करने की सामर्थ्य से भी युक्त हो जाया करते हैं।

ततः परं द्रक्ष्यति योगारुढः, स्वस्मिन् स्वरूपाधिगमं तथा च।
नवं नवं पश्यति चेतनायाः विस्फूर्जनं स्वतश्चित्त समुद्गतं च।।

– इसके पश्चात योगारूढ़ व्यक्ति स्वयं में स्व-रूप का दर्शन करते हैं। नई-नई चेतन शक्तियों का उद्‌भव उनके निर्मल चित्त में स्वयमेव होने लगता है।

अतः परं पुनः वक्ष्ये, सूत्रेष्वग्रिम पंक्तिषु।
विरमामि प्रसादोदयं, श्री गुरूणां कृपालुणाम्।।

– अब इसके बाद पुनः अग्रिम पंक्तियों में आने वाले सूत्रों के ऊपर कहूँगा। यहीं अब विराम करता हूँ। ये सब कृपालु गुरुदेव का ही प्रसाद है।

संकल्प शक्ति एवं योग

पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

"संकल्पविकल्पात्मक मन" इस परिभाषा के अनुसार तरह-तरह के संकल्प-विकल्पों में उलझे रहना मन का स्वाभाविक धर्म है। मन वायु से भी तीव्रगामी है। वह जितना चंचल है, उतना ही शक्तिशाली भी है। मन मानव की प्रसुप्त शक्तियों का भण्डार और जगत का कारण है। भौतिक जगत एवं आध्यात्मिक जगत में अब तक जो-जो चमत्कारपूर्ण कार्य होते रहे हैं, उन सबका कारण मन ही है। वह इस प्रकार है-

सबसे पहले मन में किसी काम के लिए संकल्प (विचार) उठा और उसे बुद्धि का समर्थन मिला। एक ओर मन उस विषय पर मनन कर रहा है और दूसरी ओर बुद्धि-युक्ति ढूंढ रही है। जहाँ मन को बुद्धि का समर्थन और युक्ति मिली, वह फौरन इन्द्रियों को उस काम में लगा देता है और उस संकल्प को कार्य रूप दे देता है। इस प्रकार मनुष्य अपने संकल्प के आधार पर ही सभी प्रकार के लौकिक कार्यों को सिद्ध करता है उसकी लगन जितनी सच्ची होगी और जितना अधिक उसमें आत्म-विश्वास होगा, उतनी ही जल्दी और सुविधापूर्वक उसे अपने विचारों को कार्यरूप देने में सफलता मिलेगी।

आध्यात्मिक जगत में साधक का मन बड़े चमत्कारपूर्ण ढंग से काम किया करता है। उसके मन में जो भी संकल्प उठता है, उसके अनुरूप स्वयं ही वातावरण तैयार हो जाता है। अतः उसे अपनी इच्छा की पूर्ति के लिये कोई विशेष प्रयास करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

उदाहरणार्थ- हम अपने किसी मित्र से मिलना चाहते हैं। उसका घर दूर है। साथ ही यह भी निश्चित नहीं कि वह घर पर मिल ही जायेगा। फिर भी हम उसके घर की ओर चल पड़ते हैं। कुछ ही दूर पहुँचते हैं कि मित्र महोदय सामने से आते दिखाई देते हैं और मुस्कराते हुए कहते हैं कि-अच्छा हुआ, तुम मिल गये। मुझे तुमसे कुछ काम था।

हमारे मन में एक महत्वपूर्ण कार्य को करने का विचार बार-बार उठता है किन्तु हम काम को करने की स्थिति में नहीं हैं। काफी समय तक उस काम की रूपरेखा का मन ही मन में चिन्तन करते रहते हैं और बाद में परिस्थिति को अनुकूल न देखते हुए उस काम का विचार मन से निकाल देते हैं। कुछ समय बाद यह देखते हमें आश्चर्य होता है कि आप ही आप ऐसा वातावरण तैयार हो जाता है कि हम बिना किसी योजना के उस काम में हाथ डाल

देते हैं और हँसते-हँसते अपने अभीष्ट कार्य को सम्पन्न कर डालते हैं।

यह है संकल्पशक्ति का प्रभाव। इस अद्‌भुत शक्ति को प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्दर विकसित कर सकता है। मन विलक्षण शक्तियों का भण्डार है। जैसा पहले भी कहा जा चुका है। संकल्प करना मन का स्वभाव है। वह प्रत्येक क्षण विषयों का चिन्तन करता रहता है। इस प्रकार तरह-तरह के अनावश्यक संकल्पों में उसकी शक्ति का ह्रास होता रहता है। यदि वही शक्तिशाली मन एकाग्र हो जाये तो उसकी शक्ति कई गुना बढ़ जाती है और एकाग्रता की अवस्था में मन में जो भी संकल्प उठता है, वह अवश्य पूरा होता है। कहा जाता है कि यह संसार विधाता के संकल्प का ही परिणाम है। मनुष्य स्वयं संकल्पमय है। उपनिषदों में कहा गया है-

"संकल्पमयोऽयं पुरुष।"

धर्मशास्त्र में कहा गया है-

संकल्पप्रभवाः कामाः,
यज्ञाः संकल्पसंभवाः।
व्रतनियमधर्माश्च सर्वे,
संकल्पजाः स्मृताः।।

संमोहन विद्या की विविध क्रियायें-कृत्रिम निद्रा, मार्जन, वशीकरण, प्रेरणा तथा पाश्चात्य जगत में प्रचलित टेलीपैथी, हैप्नोटिज्म मैस्मेरिज्म तथा दिव्यदृष्टि आदि संकल्प शक्ति पर ही निर्भर करती है। इसी शक्ति के आधार पर आध्यात्मिक गुरु अपने शिष्य के अन्दर शक्ति का संचार करता है। यह शक्तिपात वाणी से, स्पर्श से अथवा दृष्टि से किया जाता है।

अपनी तीव्र संकल्प-शक्ति से ही गुरुदेव अपने शिष्य के मन में प्रेरणा देकर उसे कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर चलाते हैं । वरदान तथा अभिशाप की शक्ति संकल्प शक्ति की उच्चतम् अवस्था का ही परिणाम होता है।

संकल्प-शक्ति का योग से अटूट सम्बन्ध है क्योंकि मन की एकाग्रता, विचारों की पवित्राता तथा सदाचार के अभाव में संकल्प-शक्ति काम नहीं कर सकती। अतः इसके विकास के लिए अष्टांग योग को अपनाना नितान्त अपेक्षित है।

योग का आरम्भ मन की एकाग्रता से होता है। जैसा कि योगदर्शन में कहा गया है- **"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।"** अर्थात्-चित्तवृत्तियों का निरोध तभी सम्भव होगा, जब नाड़ियों की शुद्धि तथा अन्तःकरण की शुद्धि होगी। अतः इसके लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधिरूप योग को अपनाना नितान्त आवश्यक है।

यम-नियमों के पालन से शरीर की बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार की शुद्धि होती है; आसन तथा प्राणायाम से नाड़ियों की शुद्धि होती है और प्रत्याहार, धारणा एवं

ध्यान से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। योगदर्शन में कहा भी गया है-

"धारणासु योग्यता मनसः।"

अर्थात्-धारणा सिद्ध हो जाने पर योगी का मनोबल बढ़ जाता है मनोबल को ही (विल पावर) संकल्प शक्ति कहा जाता है। मन की एकाग्रता के और अधिक बढ़ जाने पर ध्यान की सिद्धि होती है। ध्यान के बाद समाधि का स्थान आता है। यह योग की अन्तिम भूमिका है। समाधि प्राप्त योगी को ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति हो जाती है। यही एकाग्रता की पराकाष्ठा तथा समाधि की उच्चतम् स्थिति है। इस श्रेणी मे पहुँचा हुआ योगी जो कुछ कहता है, देखता है और सुनता है, वह सब सत्य ही होता है। वह त्रिकालदर्शी बन जाता है और कहता है कि-जो कुछ जानता था यह मैने जान लिया है, जो कुछ प्राप्त करना था वह प्राप्त कर लिया है। अब मेरे लिये कुछ भी जानना या प्राप्त करना शेष नहीं रहा।

गीता में इसी स्थिति का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है-

यं लब्ध्वा चापरं लाभं,
मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन,
गुरुणाऽपि विचाल्यते।।

अतः संकल्प-शक्ति की अभिवृद्धि के लिए तथा जीवन को सुखी बनाने के लिए योग-सिद्धान्तों पर आचरण करना चाहिए, क्योंकि योग की वर्णाक्षरी यम-नियमों से आरम्भ होती है। यम-नियमों के पालन से साधक का आहार तथा विहार स्वतः ही पवित्र हो जाता है। इसी पर मन की पवित्रता निर्भर करती है और पवित्र मन ही संसार के दुःख-द्वन्दों से मुक्ति दिलाता है। कहा भी है-

मन एव मनुष्याणां,
कारणं बन्ध मोक्षयोः।

अर्थात् मन की मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण है। दूसरे शब्दों में, मन के हारे हार है, मन के जीते जीत। अतः मनोबल की वृद्धि के लिए हमारा प्रत्येक संकल्प शुभ होना चाहिए। वेदों में ऐसे अनेकों मन्त्र आये है, जिनमें ईश्वर से यही प्रार्थना की गई है कि मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो जाये। यथा-

ॐ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं,
तदुसुप्तस्य तथैवेति।
दूरं गमज्ज्योतिषां ज्योतिरेकं,
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।

जो दिव्य मन जाग्रत अवस्था में दूर निकल जाता है और इसी प्रकार सोने की दशा में भी बहुत दूर चला जाता है। वह दूर जाने वाला ज्योतियों का भी ज्योति मेरा मन शुभ संकल्पों वाला बने।

ॐ सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्या-
न्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं,

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।

अच्छा सारथी जिस प्रकार वेगवान् घोड़ों को लगाम से पकड़कर चलाये जाता है, उसी प्रकार जो मनुष्य को लगातार चलाता रहता है, जो हृदय में रहने वाला है वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

ॐ यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च,
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते,
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।

इसी प्रसंग में स्वामी विवेकानन्द जी अपने राजयोग में लिखते है कि योगी को चाहिए- वह प्रातःकाल उठते ही अपनी प्रबल संकल्पशक्ति से सारे संसार की भलाई के लिये निम्न प्रकार प्रार्थना करे-

"ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्ति।"

क्योंकि—"Every Bit of hatred that goes out of the heart of a man comes back to him in full force, nothing can stop it and every impulse of life comes back to him."

अर्थात् घृणा का प्रत्येक विचार जो मनुष्य के अन्दर से बाहर आता है, वह वापस अपने पूरे बल से उसी के पास आ जाता है। ऐसा करने में उसे कोई चीज रोक नही सकती।

अतः हमें दूसरों के प्रति घृणा के स्थान पर प्रेम और शत्रुता के स्थान पर मित्रता के भाव रखने चाहिए। जो व्यक्ति अपने अन्दर से शत्रुता के समस्त विचार निकालकर दूसरों की भलाई के लिए प्रार्थना करता है। उसे बदले में विश्वमात्र का प्रेम मिलेगा। इसमे कोई सन्देह नही है।

शुभ संकल्पों तथा प्रार्थना में महान शक्ति है। क्योंकि मुँह से उच्चारित किया गया कोई शब्द कभी नष्ट नही होता। वह वायुमण्डल में हमेशा विद्यमान रहता है। साथ ही ईश्वर की वे तरंगे जो अन्तरिक्ष में रहती हैं और जिन पर संकल्पशक्ति काम करती है, हमारे मस्तिष्क में भी विद्यमान है उनमें गति लेकर विद्युत पैदा होती है। इन्ही तत्वों के आधार पर भारतीय संस्कृति में सामूहिक प्रार्थना और वेदपाठ की प्रथा अनादि काल से चली आई है। किसी प्रकार के अरिष्ट के निवारण के लिए मन्त्र-जप का अनुष्ठान आज भी किया जाता है, जो कि- अपना चमत्कारपूर्ण प्रभाव दिखाता है।

संकल्प अथवा विचारों में अद्भुत शक्ति होती है। हम अपने या दूसरों के प्रति जैसे विचार रखेंगे, हम वैसे ही बन जायेंगे। अतः हमें अपने तथा दूसरों के प्रति सदा उदारभाव रखने चाहिये। हीनता के विचार मन से बिलकुल हटा देने चाहिये तथा जन-कल्याण के चिन्तन के अतिरिक्त किसी प्रकार का संकल्प नही करना चाहिए। हमारे पूर्वज अपनी दैनिक उपासना में प्रभु से निम्न प्रार्थना करते आये है-

मित्रस्य चक्षुषा मा सर्वाणि,
भूतानि समीक्षन्ताम्।

मित्रस्याहंचक्षुपा समीक्षे,

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।

साधक को प्राणीमात्र से प्रेम करना चाहिए तभी वह आध्यात्मिक-जगत में प्रगति कर सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में जगदात्मा श्रीकृष्ण योगी के लक्षण बताते हुए कहते है-

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।

समदर्शी योगी अपने में सम्पूर्ण प्राणियों को तथा समस्त प्राणियों मे अपने को स्थित देखता है।

यही बात ईशोपनिषद् में भी कही गई है-

यस्तु सर्वाणि भूतानि,

आत्मन्येवानुपश्यति।

सर्व भूतेषु चात्मानं,

ततो न विजुगुप्सते।।

जो व्यक्ति सब प्राणियों को आत्मा में तथा सब प्राणियों में आत्मा को देखता है, वह फिर किसी से घृणा नहीं करता।

योग साधक को किसी प्रकार के अच्छे या बुरे संकल्प नही करने चाहिए। यदि उसके मन में कभी कोई संकल्प उठे भी तो वह कल्याणकारी ही होना चाहिए, क्योंकि साधक किस प्रकार योगाभ्यास करे-इस सम्बन्ध में गीता मे कहा गया है-

संकल्पप्रभवात् कामान्,

त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।

मनसैवेन्द्रियग्रामं,

विनियम्य समन्ततः।।

अर्थात्-संकल्पजनित समस्त कामनाओं को पूर्णतया त्यागकर और उनके द्वारा इन्द्रियों के समुदाय को सभी ओर से भली-भाँति रोक कर ध्यानाभ्यास करना चाहिये।

एक अन्य श्लोक में योगी की स्थिति का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है-

सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते।

अर्थात्-योगी का मन जब सभी प्रकार के संकल्प-विकल्पों मे सर्वथा रहित हो जाता है, तभी उसे योगारूढ़ कहा जा सकता है।

कारण कि-योगी का संकल्प कभी निष्फल नही जाता। उसके मन मे जो भी शुभ-अशुभ आवश्यक तथा अनावश्यक संकल्प उठेगा वह अवश्य पूरा होकर रहेगा। ऐसी स्थिति में कई बार अपने संकल्प के कारण बाद में पछताना पड़ता है, जब उसका अनावश्यक संकल्प फलीभूत होता दिखाई देता है।

यूँ तो बहुत से लोक तामसी उपासना से किसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त करके तरह-तरह के चमत्कार दिखाते हैं और अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते है, किन्तु उसे संकल्पशक्ति नही कहा जा सकता। क्योंकि संकल्पशक्ति तो मन की निर्मलता, वाणी तथा विचारों की पवित्रता तथा शुद्ध एवं

सात्विक आहार-विहार पर निर्भर करती है। इसके लिए योगदर्शन में बताये गये चित्त की प्रसन्नता के उपायों पर आचरण करना चाहिए। यथा:-

मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम्।

अर्थात्-सुखी व्यक्तियों के प्रति मित्रता की भावना रखें, दुखी के प्रति दया का भाव रखें, पुण्यात्मा को देखकर प्रसन्नता अनुभव करें तथा पापात्मा की उपेक्षा करें। ऐसा करने से भावना के अनुरूप ही मन में शुभ-संस्कारों का उदय होगा। जो कि चित्त की शुद्धि एवं प्रसन्नता का कारण बनेंगे।

संकल्पशक्ति की अभिवृद्धि के लिए व्यक्तित्व में दैवी सम्पदाओं का उत्तरोत्तर विकास करना चाहिए। गीता में दैवी संपदा तथा आसुरी संपदा का विस्तार से वर्णन किया गया है। जिसमें दैवी संपदा निम्न प्रकार से है:-

अभयं सत्वसंशुद्धि:- ज्ञानयोगव्यवस्थिति:।
दानं दमश्च यज्ञश्च, स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग: शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं, मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
तेज: क्षमा धृति: शौचमद्रोही नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीम-भिजातस्य भारत।।

निर्भयता, अन्त:करण की पवित्रता, तत्व, ज्ञान के लिए ध्यान की स्थिति, सात्विक दान, इन्द्रिय निग्रह, यज्ञ करना, वेदशास्त्रों का पठन-पाठन तथा प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का जप, स्वधर्म पालन के लिए कष्ट सहन करना तथा मन, वाणी और कर्म से सरलता।

मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना बुरा करने वाले पर भी क्रोध न करना, कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग, चित्त में चंचलता का अभाव, किसी की भी निन्दा न करना, प्राणीमात्र में दया, विषयों में अनाशक्ति कोमलता, लोक और शास्त्र के विरुद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टा का अभाव।

तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर भीतर की शुद्धि एवं किसी के प्रति भी शत्रुता का भाव न रखना, एवं अपने को श्रेष्ठ तथा पूज्य न समझना- ये दैवी संपदा वाले मनुष्यों के लक्षण है।

अन्त में लेख का उपसंहार इन दो पंक्तियों में कर रहा हूँ:-

मनुष्य अपने शुभ संकल्पों (विचारों) के कारण ही योगमार्ग में प्रवृत होता है और निरन्तर योगाभ्यास से अपने संकल्पों को और भी अधिक पवित्र, सात्विक तथा सीमित बना लेता है, जिससे उसकी संकल्प शक्ति इतनी प्रभावशाली बन जाती है कि समस्त भौतिक शक्तियाँ भी उसका सामना नही कर सकतीं।

"साधना सुलभ प्रणवाकार ब्रह्म"

पं० महेश बोहरे, ज्योतिर्विद

भारतभूमि ऋषी महर्षियों की तपस्थली है। कुशासन (कुश-आसन) पर बैठकर योगारूढ योगी-महात्मा अपनी योग शक्ति के द्वारा सृष्टि संचालन में संतुलन स्थापित करने के लिये युग दृष्टा के रूप में सतत् साधना करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त भारत-भूमि एवं इसके वायुमंडल में आज भी असंख्य ऊर्जावान दिव्य आत्मायें अजर-अमर होकर सूक्ष्म शरीर से इस देश की सनातन संस्कृति की रक्षा एवं लोक कल्याण हेतु सतत साधनारत हैं। इसीलिये गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने सुस्पष्ट वाणी में यह कहा है कि:-

महात्मानस्तु माँ पार्थ दैवी प्रकृमिमाश्रिता:।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।। गीता ९/१३

आत्मा जब जरा-मरण की गति से मुक्त हो जाती है तो महात्मा बन जाती है, यही महान आत्मा उस अलौकिक परम सत्ता में लीन होकर परमात्मा का रूप धारण कर लेती है। गीता का दशम अध्याय हमें ब्रह्म की महात्म शक्ति का साकार बोध कराता है, वहीं एकादश अध्याय में परमात्मा के विराट विश्वरूप के दिव्य दर्शन होते है।

महात्मा और परमात्मा के अनन्त स्वरूपवान ब्रह्म द्वारा, जब सूक्ष्मात्म रूप धारण किया जाता है तो वह प्रणवाकार (ओंकार) हो जाता है, जिसे मनसा योगारूढ़ होकर ही अंतरात्मा में देखा जा सकता है, तभी तो कहा गया है कि:-

"ध्यानावस्थित तद्‌गतेन, मनसा पश्यन्ति यं योगिनो।"

लौकिक जीवन में मोक्ष मार्ग की प्रशस्ति के लिये ब्रह्म के महात्मा एवं परमात्म स्वरूप के दिव्य दर्शनों से पहले उसके सूक्ष्मात्म रूप का ज्ञान एवं मनसा चिंतन किया जाना अत्यंत आवश्यक है। श्रीमद्‌भागवतगीता के अष्टम अध्याय में विशेष रूप से इसी बात पर बल दिया गया है, श्लोक क्रमांक ८ से १३ में पृच्छक अर्जुन को पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण द्वारा अपने अक्षर-ब्रह्म रूप का तात्विक बोध उसी प्रकार से कराया गया है जिस प्रकार लौकिक ज्ञानार्जन के लिये सर्व प्रथम अक्षर ज्ञान का अभ्यास अत्यंत आवश्यक होता है:-

"अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरूषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।। गीता ८/८
कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्य :
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपम् आदित्य वर्णम् तमसः परस्तात्।। गीता ८/९
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यम् चरन्ति तत् ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।। गीता ८/११
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरूध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।। गीता ८/१२
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।। गीता ८/१३

सम्पूर्ण समष्टि में समाया हुआ नेति-नेति संज्ञक अनन्त ब्रह्म भी संकुचन साध्य होकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में प्रणवाकार अक्षर मात्र में समाहित है। मन्सा योगारूढ़ होकर दत्त-चित्त अनन्यभाव के साथ स्मरण करने पर प्रणवाकार ब्रह्म की उपलब्धि लौकिक जीवन में सहज सुलभ है, इसीलिये तो गीता में भगवान श्री कृष्ण ने उपदेशित करते हुए बताया है कि :-

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।। गीता ८/१४

व्यवहारिक रूप से भी स्थूल के बजाय सूक्ष्म ही अधिक महत्वपूर्ण है। सूक्ष्म को आत्मसात करना सहज साध्य है। स्थूल, वैराट्य प्रतीक होकर दुर्लभ है। सूक्ष्म में सौम्य संचार होने से सहज सुलभता के आकर्षण गुण उसी प्रकार निहित हैं जिस प्रकार किसी शिशु के प्रति जनमानस का सहज आकर्षण एवं आत्मभाव होता है।

भगवान के अलौकिक, अविनाशी, विराट विश्वरूप को देखने की लालसा जब अर्जुन द्वारा व्यक्त की गई तो भगवान श्रीकृष्ण द्वारा अपने शरीर में चराचर सहित संपूर्ण जगत को प्रकट करके दिखाया तो भी अर्जुन नहीं देख सका तब भगवान श्रीकृष्ण द्वारा उसे दिव्य दृष्टि प्रदान की गई:-

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा
दिव्यम् ददामि ते चक्षुः पश्य योगमैश्वरम्।। गीता ११/८

दिव्य दृष्टि पाकर जब अर्जुन ने उस परम ब्रह्म परमात्मा के आलौकिक विराट विश्वरूप

के दर्शन किये तो उस दुर्लभ दिव्य विराट स्वरूप को देखकर हर्षित होते हुए भी अर्जुन जैसा धनुर्धर महायोधा भयभीत और व्याकुल होकर पुनः उसी सौम्य स्वरूप के दर्शनों के लिये विह्वल होकर प्रायश्चित भाव से प्रार्थना करने लगा:-

अदृष्टपूर्वम् हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा, भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं, प्रसीद देवेश जगन्निवास।। गीता ११/४५

भक्त वत्सल भगवान श्रीकृष्ण ने धीर-वीर धनुर्धर अर्जुन को विकल बुद्धि एवं भयातुर देखकर पुनः वही सौम्य चतुर्भुज स्वरूप के दर्शन कराये जिसके नित्य दर्शनों के लिये देवता भी हमेशा लालाहित बने रहते हैं।

मा ते व्यथा मा च विमूढ़भावो, दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं, तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।। गीता ११/४९

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सूक्ष्म को आत्मसात किया जाकर आनंदानुभूति का सुख प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि प्रणवाकार सूक्ष्म ब्रह्म मे आत्मानंद निहित है। जबकि विराट मे विलीनीकरण होकर उस विराट ब्रह्म के शून्य मे ब्रह्मानंद की गति प्राप्त होती है, जो आलौकिक एवं अत्यंत ही दुर्लभ है, इसीलिये लौकिक ज्ञान का आधार प्रणवाकार ब्रह्म को ही बताया गया है, "वेद्यं पवित्रमोंकार" अर्थात् लौकिक जीवन मे प्रणवाक्षर ब्रह्म ही ज्ञेय है। सृष्टि संचालन के लिये सनातन संस्कृति का उद्भव भी इस प्रणवाकार ब्रह्म से ही हुआ है, इसलिये भी लौकिक जगत मे प्रणवाकार अक्षर-ब्रह्म ही ज्ञेय होकर श्रद्धा पूर्वक सतत् साध्य है। प्रणवाक्षर ही तो ब्रह्म संज्ञक है। ओंकार ने ही उस परम ब्रह्म की सत और सत्यता को स्थापित किया है। स्वयं भगवान श्रीकृष्ण की अमृतवाणी के द्वारा गीता मे यही भावाभिव्यक्ति तो की गई है:-

ओ३म तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुराः।। गीता १७/२३
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञ दान तपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।। गीता १७/२४
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञ तपः क्रियाः।
दान क्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्ष कांक्षिभिः।। गीता १७/२५
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्माणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।। गीता १७/२६

अगम्य और अमोघ शक्ति

पं. राजेन्द्र प्रसाद पाठक

'संग' एवं 'साधक'–दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। जन्म-जन्मांतर से भी दोनों मे दुर्लभतर सम्बन्ध भी है। संसार में साधन करने वाले साधक प्रायः दो तरह के संग-साधन में लीन मिलते हैं– 'वासना सहित' एवं 'वासना रहित'। परमात्मा प्राप्ति के साथ-साथ जब जीव का मन (माया) वासना की तरफ से नही हट पाता, तो वह साधक वासना सहित श्रेणी में आता है और वह योगभ्रष्ट होकर स्वर्गादि-भोगादि-भोगों को प्राप्त कर संस्कार जनित कुल मे जन्म लेकर 'प्रारब्ध' को भोगता है; परन्तु केवल परमात्मा प्राप्ति में लगा हुआ तीव्र वैराग्यवान एवं मन (माया) के पचड़े से दूर साधक; वासनारहित श्रेणी मे आता है और वह स्वर्गादि भोगों को भी ठुकराते हुये, योगियों के कुल में जन्म लेता है। उसका जन्म निश्चय ही साक्षात् जीवन्मुक्त-योगी-महापुरुष के कुल मे ही होता है। इस बात को 'श्रुति' भी दुहराती है कि– ब्रह्मज्ञानी के कुल मे कोई भी ब्रह्मज्ञान से रहित नही होता है– **'नास्याब्रह्मवित कुले भवति'** (मुण्डकोपनिषद ३/२/९)

प्रायः पुण्य के फल से ही जीव धनवान, गुणवान, सात्विकता-पूर्ण प्राप्ति-स्थल पर तथा राजाओं, महाराजाओं के घर भी दुर्लभ जन्म प्राप्त कर सकता है किन्तु दुर्लभतर जन्म योगी महापुरुषों के यहाँ पाना अति कठिन है क्योंकि जीवन्मुक्त साधन, साधक को जन्म से योगियों, एवं सद्गुरुदेव की कृपा-संघ से ही प्राप्त हो सकती है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि-

"दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठ प्रियदर्शनम्।।

(श्रीमदभागवत ११/२//९)

जन द्वे दीनदयालु राघव साधु संगति पाइये।

(विनय पत्रिका १३६/ १०)

कितनी मार्मिक बात है कि कर्म, 'भगवद्भक्ति युक्त' हो या 'भगवतभक्ति सांसारिकता युक्त'- हो दोनों के फल हमें प्राप्त अवश्य होते हैं; समझने की बात तो यहाँ यह है कि परमात्मांश यह जीवन, सांसारी तथा सांसारिकता से परे कैसे होवे। संसार मे जीव का जन्म दो प्रकार से होता है, इन दोनों प्रकार के जन्म को **'प्रजा'** की संज्ञा दी गयी है। इन दोनों प्रकार के जन्मों का संकेत– **'बिन्दुज'** तथा **'नादज'** की संज्ञा देकर किया गया है।

जब जीव का जन्म, माता-पिता के रजोवीर्य से होता है, तो उसे 'बिन्दुज' (प्रजा) कहा

जाता है किन्तु वही जीव जब महापुरुषों के नाद अर्थात् शब्दोपदेश द्वारा परमार्थिक मार्ग की ओर उन्मुख करा दिया जाता है तो वह 'नादज' (प्रजा) की कोटि में आ जाता है। अतः योगियों के कुल में भी जन्म पाकर योग भ्रष्ट (वासनासहित) को बिन्दुज तथा तत्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषों का संग प्राप्त कर जन्म लेने वाले जीव-'नादज' (वासनारहित) हुआ करते हैं।

बड़ी दुर्लभता से मनुष्य जन्म प्राप्त होता है और इस जन्म में महापुरुषों का संग पाना तो अति कठिन है तथा इसमें भी सत्पुरुषों को पहचानना दुर्लभतर बात है। इस संग को 'अगम्य' और 'अमोघ' कहा गया है। नारद जी अपने 'भक्तिसूत्र' में संकेत करते हैं कि-

"महत्संगस्तुदुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च"

अतः जीवत्व क्रियायें भी बहिर्मुखी तथा अन्तर्मुखी हुआ करती हैं जो उसे भुक्ति तथा मुक्ति की ओर सम्यकशुद्धि एवं सत्तसंशुद्धि की ओर उन्मुख कराती रहती हैं। इनमें सद्गुरु कृपा ही परमात्म प्राप्ति का उद्देश्य बता सकती है और वह तभी सम्भव है जब शिष्य- निःस्वार्थ भाव से गुरु को समर्पित हो, सन्तों की विशुद्ध भाव से सेवारत हो। सोचे कि-

"न कुछ हम हँस के सीखे हैं,
न कुछ हम रोके सीखे हैं।
जो कुछ थोड़ा सा सीखे हैं,
किसी के होके सीखें हैं।।

मनुष्य शरीर ही चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करने में सक्षम है और ईश्वर द्वारा स्वतन्त्र एवं अभय की श्रेणी में रक्खी गयी है अतः इस ही शरीर से जब तक जीवात्मा-करने योग्य, जानने योग्य तथा पाने योग्य- तत्त्व को न ही जानता या जान पाता है तब तक तो इसे भय बना ही रहता है। यहाँ भय शब्द का अर्थ अति-व्यापक है कारण कि जीव को संसार में जिस-जिस वस्तु अर्थात-वर्ण, आश्रम, कर्तव्य पालन, आचार्य, गुरु, सन्त-महात्मा शास्त्र, कुलमर्यादा, पाप, अन्याय, अत्याचार, तथा चोर डाकू, व्याघ्र, सर्प एवं मेरा शरीर बना रहे, मेरा सम्मान बना रहे आदि का जो भय है वह बाहरी भय है, वस्तुतः इस प्रकार के भय तो जीव को अभय बनाने वाला भय है। ऐसा भय जीवन में परमावश्यक है। ऐसा भय होने से ही जीव मार्ग पर ठीक प्रकार से चल सकता है। अतः संकेत किया गया कि-

हरि-डर, गुरु-डर, जगत-डर, डर करनी में सार।
रज्जब डर् सो ऊबर्या, गाफिल खायी मार।।

श्री प्रभु जी ने तो ऐसा भी कहा कि जो सर्वभाव से भगवान के शरण होकर परमकरुणा धार श्री प्रभु का भजन करता है वह सर्वत्र अभय हो जाता है। अतः भगवान राम ने कहा-

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।

अभय सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।''

(बाल्मीकि रामायण ६/१८/३३)

इस प्रकार निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि 'अगम्य' और 'अमोघ' शक्ति, व्यक्ति का व्यक्तित्व ही नही है बल्कि उसमे निहित श्रद्धा (भक्ति), विश्वास एवं स्वतः ऐसा विवेक परक विचार आये, तो स्पष्ट रूप से हर व्यक्ति (जीव) सर्वथा अभय बन सकता है, जिसका संकेत भर्तृहरि वैराग्य शतक मे मिलता है कि संसार मे राग रहित होकर श्री प्रभु मे अनुराग हो जाना ही अमोघ शक्ति संचयरूपी चिन्मय तत्व है। ''भोग मे रोग का भय, ऊँचे कुल मे गिरने का भय, धन मे राजा का भय, मान मे दीनता का भय, बल मे शत्रु का भय रूप मे बुढ़ापे का भय, गुण मे दुर्जन का भय और शरीर मे मृत्यु का भय है, जो कि संसार (मे मनुष्यो) के लिये सम्पूर्ण वस्तुये भयावह सी है। मात्र एक (संसार की सभी वस्तुये नश्वर है ऐसा) वैराग्य ही भय से रहित अर्थात् अभयता देने वाला है।''

'भोगे रोग भयं कुले च्युति सयं वित्ते नृपलाद भयं।
माने दैन्यभय'' बले रिपु भयं रूपे जराया भयम्।।
शास्त्रे वाद भयं गुणेखल भयं काये कृतान्ताद् भये।
सर्वं वस्तु भयावहं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।।

(भर्तृहरि वैराग्यशतक)

परन्तु संसार एवं सांसारिक वस्तुओं की प्रियता आन्तरिक मन मे प्रगाढ़ रूप से बैठने के कारण ही विचार, भाव उद्देश्य, लक्ष्य पर तीन तरह के दोष- मल, विच्छेद तथा आवरण समाप्त नही हो पाते और चित्त की शुद्धि भी नही हो पाती। अतः इसकी शुद्धि के लिये शास्त्रो मे मल-दोष को दूर करने के लिये निष्काम कर्म (सेवा भाव) ; विक्षेप दोष को दूर करने के लिये (श्री प्रभु-ईश्वर की) उपासना तथा आवरण दोष को दूर करने के लिये (अजपा-मन्त्र का) ज्ञान ही चिन्मय तत्व को प्राप्त कर अगम्य एवं अमोघ अन्तः निहित शक्ति का बोध कराती है। अतः कहा गया-

'राम मरे तो मैं मरूँ, नहि तो मरे बलाय।
अविनाशी का बालका, मरे न मारा जाय।।

शरीर और मन आदि का आत्मा के साथ तादात्म्य ही मिथ्या ज्ञान है। यह मिथ्या तादात्म्य निकल जाने पर आत्मा ही अवशेष रहता है। यदि व्यक्ति आत्म भाव से रहे तो आनन्द है।

मंत्र : ॐ : शब्द और ज्ञान

इन अवतारी महापुरुषों के वर्णन के बाद अब हम सिद्ध गुरुओं की चर्चा करेंगे। उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान का बीज शिष्य में शब्दों (मन्त्र) के द्वारा संचारित करना होता है, और इन शब्दों का ध्यान किया जाता है। ये मन्त्र क्या है ? भारतीय दर्शन के अनुसार नाम और रूप ही इस जगत् की अभिव्यक्ति के कारण है। मानवीय अन्तर्जगत् में एक भी ऐसी चित्तवृत्ति नहीं रह सकती, जो नाम-रूपात्मक न हो। यदि यह सत्य हो कि प्रकृति सर्वत्र एक ही नियम से निर्मित है, तो फिर इस नाम-रूपात्मकता को समस्त ब्रह्माण्ड का नियम कहना होगा। 'जैसे मिट्टी के एक पिण्ड को जान लेने से मिट्टी की सब चीजों का ज्ञान हो जाता है',[1] उसी प्रकार इस देहपिण्ड को जान लेने से समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। रूप, वस्तु का मानो छिलका है और नाम या भाव भीतर का गूदा। शरीर है रूप और मन या अन्तःकरण है नाम; और वाक्‌शक्तियुक्त समस्त प्राणियों में इस नाम के साथ उसके वाचक शब्दों का अभेद्य योग रहता है। व्यष्टि-मानव के परिच्छिन्न महत् या चित्त में विचार-तरंगें पहले 'शब्द' के रूप में उठती है और फिर बाद में वे तदपेक्षा स्थूलतर 'रूप' धारण कर लेती है।

बृहत् ब्रह्माण्ड में भी ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ या समष्टि-महत् ने पहले अपने को नाम के, और फिर बाद में रूप के आकार में अर्थात् इस परिदृश्यमान जगत् के आकार में अभिव्यक्त किया। यह सारा व्यक्त इन्द्रियग्राह्य जगत् रूप है, और इसके पीछे है अनन्त अव्यक्त स्फोट। स्फोट का अर्थ है—समस्त जगत् की अभिव्यक्ति का कारण शब्द-ब्रह्म। समस्त नामों अर्थात् भावों का नित्य-समवायी उपादानस्वरूप यह नित्य स्फोट ही वह शक्ति है, जिससे ईश्वर इस विश्व की सृष्टि करता है। यही नहीं, ईश्वर पहले स्फोट-रूप में परिणत हो जाता है और तत्पश्चात् अपने को उससे भी स्थूल इस इन्द्रियग्राह्य जगत् के रूप में परिणत कर लेता है। इस स्फोट का एकमात्र वाचक शब्द है 'ॐ'। और चूँकि हम किसी भी उपाय से शब्द को भाव से अलग नहीं कर सकते, इसलिए यह 'ॐ' भी इस नित्य स्फोट से नित्य संयुक्त है। अतएव समस्त विश्व की उत्पत्ति सारे नाम-रूपों की जननीस्वरूप इस ओंकार-रूप पवित्रतम शब्द से ही मानी जा सकती है। इस सम्बन्ध में यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि यद्यपि शब्द और भाव में नित्य सम्बन्ध है, तथापि एक ही भाव के अनेक वाचक शब्द हो सकते है, इसलिए यह आवश्यक नहीं कि यह 'ॐ' नामक शब्दविशेष ही सारे जगत् की अभिव्यक्ति के कारणस्वरूप भाव का वाचक हो। तो इस पर हमारा उत्तर यह है कि एकमेव यह 'ॐ' ही इस प्रकार सर्वभाव व्यापी वाचक शब्द है, अन्य कोई भी उसके समान नहीं। स्फोट ही सारे शब्दों का उपादान है, फिर भी वह स्वयं पूर्ण रूप से विकसित कोई विशिष्ट शब्द नहीं है। अर्थात् यदि उन सब भेदों को, जो एक भाव को दूसरे से अलग करते है, निकाल दिया जाय, तो जो कुछ बच रहता है, वही स्फोट है। इसीलिए इस स्फोट को 'नादब्रह्म' कहते है।

---

1. यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन मृन्मयं विज्ञातं स्यात्। —छान्दोग्योपनिषद्।।६।१।४।।

अब इस अव्यक्त स्फोट को प्रकाशित करने के लिए यदि किसी वाचक शब्द का उपयोग किया जाय, तो वह शब्द उसे इतना विशिष्टीकृत कर देता है कि उसका फिर स्फोटत्व ही नहीं रह जाता। इसीलिए जो वाचक शब्द उसे सबसे कम विशिष्टीकृत करेगा, पर साथ ही उसके स्वरूप को यथासम्भव पूरी तरह प्रकाशित करेगा, वही उसका सबसे सच्चा वाचक होगा। और यह वाचक शब्द है एकमात्र 'ॐ'; क्योंकि ये तीनों अक्षर अ, उ और म, जिनका एक साथ उच्चारण करने से 'ॐ' होता है, समस्त ध्वनियों के साधारण वाचक के तौर पर लिये जा सकते है। अक्षर 'अ' सारी ध्वनियों में सबसे कम विशिष्टीकृत है। इसीलिए कृष्ण गीता में कहते है-"अक्षरों में मैं 'अ' कार हूँ।"[1] स्पष्ट रूप से उच्चरित जितनी भी ध्वनियाँ है, उनकी उच्चारण-क्रिया मुख में जिह्वा के मूल से आरम्भ होती है और ओठों में आकर समाप्त हो जाती है-'अ' ध्वनि कण्ठ से उच्चरित होती है, और 'म्' अन्तिम ओष्ठ्य ध्वनि है। और 'उ' उस शक्ति को सूचक है, जो जिह्वामूल से आरम्भ होकर मुँह भर में लुढ़कती हुई ओठों में आकर समाप्त होती है। यदि इस 'ॐ' का उच्चारण ठीक ढंग से किया जाय, तो इससे शब्दोच्चारण की सम्पूर्ण क्रिया सम्पन्न हो जाती है-दूसरे किसी भी शब्द में यह शक्ति नहीं। अतएव यह 'ॐ' ही स्फोट का सबसे उपयुक्त वाचक शब्द है- और यह स्फोट ही 'ॐ' का प्रकृत वाच्य है। और चूँकि वाचक वाच्य से कभी अलग नहीं हो सकता, इसलिए 'ॐ' और स्फोट अभिन्न है। फिर, यह स्फोट इस व्यक्त जगत् का सूक्ष्मतम अंश होने के कारण ईश्वर के अत्यन्त निकटवर्ती है तथा ईश्वरीय ज्ञान की प्रथम अभिव्यक्ति है; इसलिए 'ॐ' ही ईश्वर का सच्चा वाचक है। और जिस प्रकार अपूर्ण जीवात्मागण एकमेव अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म का चिन्तन विशेष विशेष भाव से और विशेष-विशेष गुणों से युक्त रूप में ही कर सकते है, उसी प्रकार उसके देहरूप इस अखिल ब्रह्माण्ड का चिन्तन भी, साधक के मनोभाव के अनुसार, विभिन्न रूप से करना पड़ता है।

उपासक के मन का दिशा-निर्धारण तत्वों की प्रबलता के अनुसार होता है। परिणामतः एक ही ब्रह्म भिन्न भिन्न रूप में भिन्न भिन्न गुणों की प्रधानता से युक्त दीख पड़ता है और वही एक विश्व विभिन्न रूपों में प्रतिभात होता है। जिस प्रकार अल्पतम विशिष्टीकृत तथा सार्वभौमिक वाचक शब्द 'ॐ' के सम्बन्ध में, वाच्य और वाचक परस्पर समवायी रूप से सम्बद्ध है, उसी प्रकार वाच्य और वाचक का यह अविच्छिन्न सम्बन्ध ईश्वर और विश्व के विभिन्न खण्ड भावों पर भी लागू है। अतएव उनमें से प्रत्येक का एक विशिष्ट वाचक शब्द होना आवश्यक है। ये वाचक शब्द ऋषियों की गम्भीरतम आध्यात्मिक अनुभूति से उत्पन्न हुए है, और वे ईश्वर तथा विश्व के जिन विशेष विशेष खण्ड भावों के वाचक है, उन विशेष भावों को यथासम्भव प्रकाशित करते है। जिस प्रकार 'ॐ' अखण्ड ब्रह्म का वाचक है, उसी प्रकार अन्यान्य मन्त्र भी उसी परम पुरुष के खण्ड खण्ड भावों के वाचक है। ये सभी ईश्वर के ध्यान और सत्य ज्ञान की प्राप्ति में सहायक है।

---

1. अक्षराणामकारोऽस्मि।। गीता।। १०।३३।।

सम्पादकीय सूचना

'सिद्धयोग' पत्रिका का उद्देश्य योग सिद्धान्तों व विचारों का प्रचार व प्रसार करना है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु विषय से सम्बद्ध श्रुति, स्मृति, पुराण एवं योग साहित्य के ग्रन्थों में वर्णित यौगिक विषय जो आक्षेप रहित एवं प्रेरणाप्रद हों ऐसे लेख ही प्रकाशित होते हैं। किसी मत, सम्प्रदाय, आचार्य परम्परा एवं उनके सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन करना पत्रिका की मर्यादा के विरुद्ध है। अतः लेखकों को चाहिये कि लेख योग विषयक व सिद्धयोग परम्परा से सम्बन्धित हों, साधना की दृष्टि से महत्वपूर्ण तथा साधक के ज्ञानवृद्धि में सहायक हों ऐसे लेख ही भेजने चाहिये। लेख में काट-छाँट, परिवर्तन आदि करने अथवा उन्हें न छापने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक का है। लेख स्वच्छ एवं सुपाठ्य अक्षरों में कागज के एक ही पृष्ठ पर बायें हाशिया छोड़कर लिखा होना चाहिये।

योग प्रचार कार्यक्रम

सभी गुरु भाई बहिन एवं साधक समुदाय को सूचना देते हुये हर्ष का अनुभव कर रहे हैं कि हमारे कानपुर योग प्रचार मण्डल ने २३.१०.९७ से २६.१०.९७ तक एक विशाल योग शिविर का आयोजन किया है। इसमें बाहर से अनेक विशिष्ट योग के विद्वान आ रहे हैं। अतः सभी से निवेदन है कि इस शिविर में सम्मिलित होकर सत्संग लाभ लें एवं पुण्य के भागी बनें।

निवेदक :

योग प्रचार मण्डल कानपुर

स्थान :

कम्यूनिटी हाल आई.आई.टी.

कानपुर